मदन गोस्वामी

शिशुपालवधम्

(३-४ सर्गः)

सम्पादक : अनुवादक
पं० जनार्दनशास्त्री पाण्डेय

...लाल बनारसीदास
... :: पटना :: वाराणसी

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

[३-४ गौं]

व्याख्याकार :
जनार्दनशास्त्री पाण्डेयः
एम० ए०, साहित्याचार्यः

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: पटना :: वाराणसी

प्रकाशक, पुस्तक विक्रेता
मुख्यकार्यालय : बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली
शाखाएं : चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
: अशोकराजपथ, पटना (बिहार)

प्रथम संस्करण
१९७२
मूल्य : २-५०

श्री सुन्दरलालजैन, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित
तथा चन्द्र प्रकाश प्रेस, लाजपतनगर, वाराणसी द्वारा मुद्रित ।

तृतीय सर्ग

श्रीकृष्णका प्रस्थान

उद्धवजीकी उक्ति सुन लेनेके बाद युद्धका आग्रह छोड़कर युधिष्ठिरके यज्ञमें ही सम्मिलित होनेका विचार करके भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रप्रस्थके लिए प्रस्थान किया। चलते समय उन्होंने श्वेतच्छत्र, चंवर, मुकुट, कुण्डल, बाजूबन्द, कङ्कण, मुक्ताहार, कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला और पीताम्बर धारण किया जिससे उनकी उस समय अद्भुत शोभा हो रही थी। उन्हें जाते देख द्वारकाकी युवतियोंने साथ चलनेके लिए उन्हें घेर लिया। वे जिसकी ओर आँख उठाकर देख लेते थे वह लज्जासे झुक जाती थी। फिर एक-एक करके सुदर्शनचक्र, कौमोदकी गदा, नन्दक नामका खड्ग, शार्ङ्गधनुष ये दिव्य अस्त्र भी उनके पास आ गये और पाञ्चजन्य शंखका शब्द भी सुन पड़ा। इस प्रकार सज-धजकर वे रथमें ज्यों ही आरूढ़ हुए त्यों ही रथकी पताकामें गरुड़ भी आ पहुँचा। ऐसा प्रतीत होता था कि त्रिभुवनको उदरमें रखनेवाले भगवान् कृष्ण ज्यों-ज्यों पैर बढ़ा रहे हैं त्यों-त्यों पृथ्वी भार से दब रही है और शेष हाथोंका सहारा देकर बड़ी कठिनतासे पृथ्वीको थामे हैं। उनके पीछे-पीछे अपार यादवोंकी सेना भी चल पड़ी। द्वारकाकी सुनहरी भूमि पर सेनाके हाथियोंका ललाई लिया सांवला मदजल सनजानेसे और रथोंके पहियों द्वारा चूर-चूर होनेसे मोरपंखोंके रंगबिरंगे चूर्ण सा दीखने लगा। सवारों द्वारा रोके जानेपर भी अगले पैरोंको उठाये हुए सेनाके घोड़े आगे-आगे रास्ता रोके हुएसे हाथियोंको जैसे लांघ जाना चाहते हों। मार्गमें धूलके खेल करते हुए बच्चोंको कुचल जानेकी डरसे उनकी माताएँ हटाने लगीं। भगवान्‌को देखनेके लिये अपार जन-समूह उमड़ पड़ा। भीड़के कारण भगवान्‌का रथ इतना धीरे-धीरे चलने लगा कि उन्हें पता ही नहीं चला कि कब द्वारका से बाहर आगये।

द्वारका वर्णन

बाहर आनेपर उन्होंने द्वारकाको देखा जो समुद्रके बीचोंबीच बड़वाग्निकी लौ जैसी, विधातासे बनाये हुए पृथ्वीके चित्र जैसी, विश्वकर्मा द्वारा अपना सम्पूर्ण कौशल लगाकर बनाई गई स्वर्ग की छाया जैसी दीख रही थी। परकोटेके चारों ओर समुद्रकी लहरोंसे उछाले हुए शंखोंके ढेर लगे थे। बाजार रत्नोंसे पटे थे प्रतीत होता था कि यहांकी नालियोंसे बहकर जो रत्न समुद्रमें जाते हैं उन्हींसे समुद्र रत्नाकर कहलाता है। समुद्रकी लहरें ऊँची से ऊँची उठनेपर भी इसके प्राकार (परकोटे)को लांघ नहीं पाती थी। बादल इसके

परकोटेसे टकराकर बाहर ही बरसते थे। यहाँकी स्त्रियाँ अप्सराओंसे भी सुन्दर थीं वे जब चांदनी रातमें ऊँचे स्फटिकके महलोंकी छतोंसे झांकती थी तो लगता था आकाशसे देख रही हों। रात्रिमें चन्द्रकान्त मणियोंके पिघलनेसे छतोंसे नाले बहने लगते थे। मणियोंसे बनी दीवालोंपर गवाक्षोंसे चांदनी पड़नेसे दीया बुझानेपर भी प्रकाश ही रहता था। दीवालें अत्यन्त चिकनी होनेसे उनपर चित्र तो नहीं बन पाते थे किन्तु देखनेवालोंके प्रतिबिम्ब पड़नेसे सजीव चित्रसे लगते थे। मरकत मणियोंसे बनी घरकी देहलियोंमें भोलीभाली स्त्रियोंको गोबरसे लीपलेनेका भ्रम होता था। छतोंपर बने हुए कृत्रिम कबूतरोंको असली समझकर मारनेकी घातमें बैठा हुआ बिल्ला भी कृत्रिम जैसा ही लगता था (अर्थात् कृत्रिम और वास्तविक का भेद करना कठिन था)। चन्द्रमुखी युवती वधुओंको लेकर यहाँके युवक छज्जोंपर एकांतमें विहार करते थे। अपनी सुगन्धसे युवकोंको मोहित करनेके लिए सुन्दरियोंके मुख और मद्य जैसे होड़ करते थे। यहांके लोग सरल, निर्दोष, मर्यादाको न छोड़नेवाले और विनम्र थे। स्त्रियाँ लक्ष्मी जैसी थीं। प्रत्येक व्यक्ति के पास कल्पनासे भी अधिक संपत्ति थी। कामदेव मानो शरीरधारी होकर यहाँ निरन्तर निःशंक होकर रहता था। अपनी महत्ताके कारण यह द्वारका इन्द्रकी अमरावतीको भी जैसे ललकारती थी। इसमें कोई आश्चर्यकी बात न थी क्योंकि त्रिभुवन-तिलक साक्षात् श्रीकृष्ण इसमें रहते थे। इस प्रकारकी द्वारकाको निहारते हुए श्रीकृष्ण उससे बाहर आये तो उनके पीछे-पीछे सेनाएँ भी निकलीं। भीड़के मारे सेनाके घुड़सवारोंकी जांघें पिसी जारही थीं। भगवान्‌के बाहर निकलते ही जैसे द्वारका उदास हो गई थी।

समुद्र वर्णन

आगे बढ़नेपर भगवान्‌ने समुद्रको देखा जिसके पार हरे-हरे पत्तोंसे ढकी वनश्रेणियाँ सेवारकी ढेर सी दीख रही थी। ऊंची-ऊंची लहरें उठ-उठकर लीन हो रही थी। लहरोंसे उछाले गये मुक्ताओंके ढेर द्वारकामें पहुँच रहे थे। सारे संसारको जल बरसाकर भिगा देनेवाले मेघ इस समुद्रके किसी कोनेसे जल ले रहे थे। नदियाँ इसमें गिर रही थी। देश विदेशोंसे व्यापारियोंके जहाज इसमें आ-जा रहे थे। उछलती हुई तरङ्गोंसे ऐसा लगता था जैसे समुद्र श्रीकृष्णका स्वागत करता हुआ भुजाओंसे आलिङ्गन करना चाहता हो।

इस प्रकार चलते हुए सैनिक कच्छ प्रदेशमें पहुँचे वहाँ लवङ्गकी माला पहिने नारियलका डाभ पीते तथा कच्ची सुपारियाँ खाते हुए आगे चलकर समुद्रसे बहुत दूर निकल गए।

चतुर्थ सर्ग

रैवतक पर्वत वर्णन

भगवान् श्रीकृष्णने उस रैवतक पर्वत को देखा जो—नीलमके बीच-बीचमें विभिन्न रंगोंके गैरिकादि धातुओंवाले शिखरोंसे युक्त था। शिखरोंके ऊपर मँडराते हुए बादलोंके कारण सूर्यके मार्ग को रोकनेवाले विन्ध्याचल सा प्रतीत होता था। सोनेके परकोटेके बीच इन्द्रनील मणियोंकी कान्तिसे तथा अत्यन्त परागके कारण भौंरोंसे भरी हुई लताओंसे व्याप्त था। जो अपने हजारों शिखरोंसे आकाशको तथा प्रत्यन्त पर्वतोंसे पृथ्वीको ढके था। सूर्य चन्द्रमा जिसके नेत्रसे लगते थे और सुवर्णकी खानोंसे भरा था। जिसके किसी भागमें सजल होनेसे नीले और किसीमें जलरहित होनेसे सफेद मेघ घूम रहे थे। जिसके तालावोंमें पक्षी कमलोंके पत्तोंकी छायामें विहारकर रहे थे, जिसमें उगे हुए वृक्ष नीलकंठों (मयूरों) से अध्युषित और सर्पोंसे आलिङ्गित तथा लताओंसे वेष्टित थे। जो नीलकमल, लोधकी सफेद पराग एवं वल्वजतृणयुक्त बालूवाले एवं सेवारसे ढके स्वच्छ जलोंको धारण किये था। जिसमें कमलोंकी कतारें भौंरों को इधर-उधर डुला रही थीं, वृक्षोंकी पंक्तियाँ आतपको हर रही थी, देवाङ्गनाएँ निःशंक होकर विचरण कर रही थी। सुमेरुके-से ऊँचे शिखरोंवाले जिसके वर्णनमें कवियोंकी उक्ति झूठी नहीं होती थी। जिससे लोग भर-भरकर रत्नोंको ले जाते थे। जिसके खिसके हुए चट्टानोंपर उगे वृक्ष ऐरावतपर चढ़े इन्द्र जैसे दीख रहे थे। अरुणकी लालिमासे बदला हुआ सूर्यके घोड़ोंका रंग इस पर्वतके ऊपर आनेपर पुनः रत्नोंकी किरणोंसे हरा हो जाता था। निरन्तर बादलोंके जल बरसानेसे सर्पोंकी विषाग्निकी बाधा इसपर कुछ नहीं व्यापती थी। इसके सूर्यकान्तमणिवाले शिखरोंपर सूर्यकी किरणें पड़नेपर आग बरसने लगती थी। बार-बार देखा हुआ भी यह पर्वत नया-सा लग रहा था। अतः भगवान् को उत्कंठित देखकर सारथी दारुकने पर्वतका वर्णन करना प्रारम्भ किया।

दारुकने कहा—पृथ्वी, आकाश और दिशाओंको अपने विशाल शिखरोंसे ढकते हुए इस पर्वत को देखकर किसे आश्चर्य न होगा, इसके एक ओर जब सूर्य उदय होता है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होता है तो यह दोनों ओर लटकती घंटाओंवाले हाथी-सा दीखता हैं। हरी-हरी दूबवाली सुनहरी भूमियों-को चारों ओर धारण करता हुआ यह पीले वस्त्र एवं सांवले शरीरवाले आप ही जैसा लगता है। इसके शिखरोंपर बैठे हुए लोग चन्द्रमाके कलंकरहित पिछले भागको ही देख पाते हैं। इसके ऊंचे-ऊंचे झरनोंसे नीचे गिरकर ऊपर उछलते हुए जलकण स्वर्गकी अप्सराओंके ताप को शान्त करते हैं। इसके तालावों

में एक ओर स्फटिककी तथा दूसरी ओर नीलमणि की कान्तिसे श्वेत एवं नीला जल गङ्गा-यमुनाके संगमकी याद दिलाता है। एक ओर सुवर्णमयी तथा दूसरी ओर रजतमयी भीतोंसे यह पर्वत भस्मभूषित देह वाले तथा नेत्रसे अग्नि बरसाते हुए शिवजी जैसा लगता है। इसकी ऐसी तटभूमियाँ हैं जहाँ कोई जा नहीं सकता। चारों ओर खिले चम्पापुष्पोंसे ढके हुए इसके ऊंचे शिखरोंकी कान्तिसे सारा देश इलावृतवर्षकी तरह सोनेका-सा लगता है। इसमें कम्बलमृग विचरते हैं, स्त्रियों सहित सिद्धगण विहार करते हैं, रात्रिमें औषधियाँ चमकती हुई प्रकाश करती हैं, खिले हुए कदम्बोंको हिलाती हुई सुखकर वायु बहती है। सुवर्ण रत्न आदिकी गुप्त खानोंसे यह भरा हुआ है, किन्नरों और गंधर्वों की यह विहारभूमि है, इसकी सभी लताएं सदा पुष्पित रहती हैं, इसमें नारियोंके अपने अनुरूप विहारस्थल एवं एकान्तके संकेतस्थल बने हुए हैं। कीचकोंमें वायुके प्रवेशसे आनन्ददायक स्वर गूंजता रहता है। चंवरगायोंके झुंड यहाँ विचरते हैं। नीलम शिलाओंपर बनी वापियोंकी अद्‌भुत शोभा है। मानिनियाँ यहाँ मान नहीं कर पातीं, यहाँ रत्नोंका इतना प्रकाश होता है कि चन्द्रमाको सूर्य समझकर रातमें भी नलिनी खिल जाती है। बहुत-सी नदियाँ इसमें बहती हुई समुद्रमें मिलती हैं। इसके तट भौंरों द्वारा गिराये गये लताओंके परागसे पीले हो जाते हैं, इसके रत्नमय शिखरोंकी कान्तियोंके संमिश्रणसे आकाशमें जो चित्र जैसे बन जाते हैं उनसे आकाशचारी सिद्धोंको भी आश्चर्य होता है। इसके शिखरोंपर बादल विलासियोंके लिए परदेका काम करते हैं।

यह केवल भोग भूमि ही नहीं मोक्षभूमि भी है क्योंकि इसमें रहते हुए योगी लोग क्लेशोंको नष्टकर चित्त शुद्ध करते हुए संप्रज्ञात समाधिसे प्रकृति-पुरुषकी भिन्नताको जानकर अन्तमें उसे भी छोड़ देते हैं और स्वयंप्रकाशकी स्थितिको प्राप्त करनेमें लग जाते हैं। इसके शिखर रात्रिमें चन्द्रकान्त मणियोंके पिघलनेसे स्नान करते हुए और दिनमें सूर्यकान्त मणियोंसे अग्निकी लपटें निकलनेसे पंचाग्नि तापते हुए मानों उग्र तपस्या करते हैं। बड़ी-बड़ी झीलोंकी शोभा अद्‌भुत है, कलभों, चंवरगायों, कम्बल एवं कस्तूरीमृगोंके झुण्ड यहाँ विचरते हैं। सभी ऋतुओंका आनन्द यहाँ सदा मिलता है अत: शीतोष्णादि द्वन्द्व यहाँ किसीको नहीं सताते। दिनभर खिले हुए कमलोंवाले नदोंमें जल-विहार करते हुए यादव रातको ऊखकी शराब पीकर स्त्रियोंसे विहार करते हैं।

इस प्रकार यह श्रेष्ठ रैवतक ऊपर उठते हुए साँवले मेघोंसे मानो आपकी अगवानी करनेके लिये ऊपर उठ रहा है।

● ●

सूक्तयः

अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति ।३।३१

न नामतः केवलमर्थतोऽपि ।।३।५६।

न रौहिणेयो न च रोहिणीशः ।।३।६०।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।४।१७

तृतीयः सर्गः

कौवेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥१॥

अन्वय :—अथ अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः हरिः, कौवेरदिग्भागम् अपास्य, आगस्त्यं मार्गम् अवतीर्णः, उष्णांशुः इव, हरिप्रस्थं प्रतस्थे ।

पदार्थ—अथ=(उद्धवके) वचन सुननेके वाद । अपेतयुद्धाभिनिवेश-सौम्यः=युद्ध का आग्रह (अभिनिवेश) दूर हो जानेसे प्रसन्न । हरिः=श्रीकृष्ण । कौवेरदिग्भागम्=कुवेरकी दिशा (उत्तर दिशाके) भाग को । अपास्य=छोड़कर । आगस्त्यं मार्गं=अगस्त्यकी दिशा (दक्षिणके) मार्गमें । अवतीर्णः=उतरते हुए । उष्णांशुः इव=सूर्य जैसे । हरिप्रस्थं=इन्द्रप्रस्थ को । प्रतस्थे=चले ।

सर्वङ्कषा—कौबेरेति ॥ अथोद्धववाक्यश्रवणानन्तरम् । अपेतो युद्धेऽभिनि-वेशः=आग्रहो यस्य सः । शान्तक्रोध इत्यर्थः । अत एव सौम्यः=प्रसन्नः । अत एव कौवेर्या दिशो भागम् । उत्तरायणमित्यर्थः । 'स्त्रियाः पुंवत्—' इत्यादिना पुंवद्भावः । तमपास्य=त्यक्त्वा, अगस्त्यस्येममागस्त्यं मार्गमवतीर्णः । दक्षिणा-यनं गत इत्यर्थः । उष्णांशुरिव स्थितः । अनेन हरेः क्रोधः कार्यवशादकालमन्तः-स्तम्भितः,न त्वेकान्ततो निवृत्त इति सूचितम् । हरिः=कृष्णो हरिप्रस्थम्=इन्द्रप्रस्थं प्रतस्थे=प्रचचाल । 'इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः' इति हलायुधः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति गन्तव्यस्य कर्मत्वम् । उपमालंकारः । सर्गेऽस्मिन्निन्द्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणादुपजातिवृत्तम् । 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति लक्षणात् ॥१॥

भावार्थ—[नारदजीसे इन्द्र का संदेश और उसपर बलरामजीकी प्रतिक्रिया देखकर श्रीकृष्ण तमतमा उठे थे और युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होनेकी अपेक्षा शिशुपालपर चढ़ाई करना उन्हें अधिक उचित लगता था । किन्तु उद्धवजीके युक्तियुक्त कथनसे उनकी युद्धमें आसक्ति दूर हो गई और वे प्रसन्न होकर हस्तिनापुरको प्रस्थान किये ।]

जैसे प्रचण्ड किरणोंवाला सूर्य उत्तरायण समाप्त होनेपर दक्षिणायनकी ओर अग्रसर होता हुआ सह्यकिरणोंवाला हो जाता है ऐसे ही युद्धका विचार टल जानेसे शान्त हुए श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ (हस्तिनापुर) को प्रस्थान किये ।

टिप्पणी—कुवेर उत्तर दिशाके स्वामी हैं अतः वह कौवेरी दिशा कहलाती है । अगस्त्य दक्षिण दिशाके स्वामी तो नहीं हैं किन्तु विन्ध्याचलको

नीचा करनेके लिये वे दक्षिण दिशामें गये और वहीं रह गये। इसलिये दक्षिण अगस्त्यकी दिशा प्रसिद्ध हो गई। सूर्यकी किरणोंमें उष्णता तो प्रायः समान ही रहती है किन्तु विषुवत् रेखासे जब सूर्य उत्तरकी ओर बढ़ता है तब उसकी किरणें पृथ्वीपर सीधी पड़ती हैं, इसलिए यह प्रचण्ड आतप का समय होता है। इस समय सूर्य मकरसे मिथुनराशियोंमें रहता है अर्थात् माघसे अषाढ़ तक का यह समय उत्तरायण कहलाता है, जब सूर्य विषुवत् रेखासे दक्षिणकी ओर चलने लगता है अर्थात् कर्कसे धनु राशियोंमें रहता है (श्रावणसे पौष तक) तब सूर्यको किरणें पृथ्वीपर तिरछी पड़ती हैं इसलिये उनकी प्रचण्डता उतनी नहीं रहती, यही दक्षिणायन कहाता है। यहाँ सूर्यकी उपमासे स्पष्ट है कि श्रीकृष्णकी तेजस्वितामें कोई अन्तर नहीं आया किन्तु जहाँ बलरामजीकी उग्र वाणीसे वे तमतमा उठे थे वहां उद्धवजीके युक्तिपूर्ण वचनोंसे प्रसन्न हो गये। हरि इन्द्रका भी पर्याय है, यहाँ हरिःका अनुप्रास बनानेके लिये हरिप्रस्थ कहा है। वर्तमान दिल्ली नगर ही प्राचीन इन्द्रप्रस्थ है, जो पाण्डवों की राजधानी थी।

इस पूरे सर्गमें उपजाति छन्द है जो इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्राके मिश्रणसे बना है, इन्द्रवज्राका प्रत्येक चरण ग्यारह वर्णोंका होता है, इसमें दो तगण ऽऽ। एक जगण ।ऽ। और दो गुरु ऽऽ होते हैं, पाँच और छ पर विराम होता है। इसीका प्रथम वर्ण लघु होनेपर उपेन्द्रवज्रा कहलाती है। उपमा अलंकार है ॥१॥

जगत्पवित्रैरपि तं न पादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे ॥ २ ॥

अन्वय :—अर्कः जगत्पूज्यं तं जगत्पवित्रैः अपि पादैः स्प्रष्टुं न अयुज्यत, यतः तस्य बृहत् पार्वणचन्द्रचारु आतपत्रं बिभराम्बभूवे।

पदार्थ—अर्कः=सूर्य। जगत्पूज्यं=संसार के पूजनीय। तं=उस (श्रीकृष्ण)-को। जगत्पवित्रैः अपि=संसार भरसे पवित्र अथवा संसारको पवित्र करनेवाले भी। पादैः=किरणोंसे। स्प्रष्टुं=छूनेको। न अयुज्यत=समर्थ न था। यतः=क्योंकि। तस्य=उस (श्रीकृष्ण) के ऊपर। बृहत्=विशाल। पार्वणचन्द्रचारु=पर्वकालीन (पौर्णिमाके) चन्द्रमा जैसा सुन्दर। आतपत्रं=छत्र। बिभराम्बभूवे=लग गया था।

सर्वङ्कषा—अथास्य प्रस्थानसन्नाहं वर्णयन्नादौ छत्रधारणमाह—जगदिति ॥ अर्को जगत्पूज्यं तं हरिं प्रति एव जगत्पवित्रैरपि पादैः=अग्रैः किरणैश्च

स्प्रष्टुं नायुज्यत=नार्हत । युजेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । कुतः । यतस्तस्य हरेर्बृहद्=विपुलं पार्वणचन्द्रचारु=पूर्णेन्दुसुन्दरमित्युपमालङ्कारः । आतपात्त्रायत इत्यातपत्त्रं=छत्रम् । 'सुपि' इति योगविभागात् कः । बिभरांबभूवे=दध्रे । भृञः कर्मणि लिटि 'भीह्रीभृहुवाम्' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । आतपत्रान्तर्हितस्य द्वयैरपि पादैः स्प्रष्टुमशक्यत्वादित्यर्थः । जगत्पूज्यस्य हरेः पादेन स्पर्शनिषेधादिति भावः ॥२॥

भावार्थ—सूर्यकी किरणें यद्यपि संसारमें सबसे पवित्र हैं किन्तु उन किरणोंसे वह भगवान् श्रीकृष्णके पवित्र देहको छू नहीं सकता था । क्योंकि उनके ऊपर पूर्णिमाके चन्द्र जैसा सुन्दर विशाल श्वेत छत्र लग गया था ।

टिप्पणी—कहना तो इतना ही है कि सूर्यकी किरणें श्रीकृष्णकी देह-पर नहीं पड़ रही थी क्योंकि वे छत्र धारण किये थे । किन्तु इसके लिए कवि-ने जो आडम्बर रचा है वह सहृदयसंवेद्य नहीं । किरणोंके लिये पाद शब्दका प्रयोग कविकी इस भावनाको व्यक्त करता है कि सूर्यके पाद (किरण या पैर) जगत्पवित्र होनेपर भी श्रीकृष्णके शरीरको छू नहीं सकते थे क्योंकि वे (श्रीकृष्ण) जगत्पूज्य थे । पाद शब्दसे पैर अर्थका बोध जितनी शीघ्रता से होता है, किरण अर्थका उतनी शीघ्रतासे नहीं । यदि श्रीकृष्ण जगत्पूज्य न भी होते तो भी सूर्यका अपने पैरोंसे उनको छूनेकी चेष्टा करना कोई सभ्यता न होती । 'बृहत्' यद्यपि आतपत्रका विशेषण है, किन्तु उसका सन्नि-वेश इस प्रकार हुआ है कि वह पार्वणचन्द्रका सा विशेषण लगता है । इसी प्रकार चन्द्रचारुसे चन्द्रशुभ्र पाठ अधिक उपयुक्त होगा । अनुप्रासके लिये औचित्यका गला घोटना इस कविका स्वभाव है ॥२॥

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः ।
भेजेऽभितः पातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥३॥

अन्वयः—मृणालसूत्रामलं चलच्चामरयोर्द्वयम् अन्तरेण स्थितः स अभितः पातुकसिद्धसिन्धोः अम्बुराशेः अभूतपूर्वां रुचं भेजे ।

पदार्थ—मृणालसूत्रामलं=बिसतन्तु जैसे स्वच्छ । चलच्चामरयोर्द्वयं=डुलते हुए दो चँवरोंके, अन्तरेण स्थितः=मध्यमें स्थित, सः=वह (श्रीकृष्ण) । अभितः=दोनों ओर । पातुकसिद्धसिन्धोः=गिरती हुई स्वर्गङ्गावाले । अम्बुराशेः=समुद्रकी । अभूतपूर्वां=अनुपम । रुचं=कान्तिको । भेजे=धारण करते थे ।

सर्वङ्कषा—अथ चामरधारणमाह—मृणालेति ॥ मृणालसूत्रामलं बिस-तन्तुविशदमित्युपमा । चलन्ती च ते चामरे च चलच्चामरे । वीजनादिति भावः

तयोर्द्वयमन्तरेण स्थितः द्वयस्य मध्ये स्थित इत्यर्थः। 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया। स=हरिरभितः पातुका=उभयतःपातिनी सिद्धसिन्धुः=आकाशगङ्गा यस्य स तथोक्तः। 'पर्यभिभ्यां च' इति तसिल्प्रत्ययः। 'सर्वोभयार्थवर्तमानाभ्यामिष्यते' इत्युभयार्थत्वम्। सुप्सुपेति समासः। पातुकेति। 'लषपत–' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः। तस्याम्बुराशेः=समुद्रस्याभूतपूर्वां=पूर्वमभूताम्। सुप्सुपेति समासः। रुचं=कान्तिं भेजे। अत एव निदर्शना। सा चाम्बुराशेः सम्भावनामात्रोक्त्या अभितः पातुकसिद्धसिन्धुसम्बन्धमूलया असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या स्वोपजीवकसंयोगेन संकीर्यत इति संक्षेपः ॥३॥

भावार्थ—कमलनालके रेशों जैसे स्वच्छ और शुभ्र, दोनों ओर डुलते हुए चँवरोंके बीच भगवान् कृष्णकी ऐसी शोभा हो रही थी, जैसी दोनों ओर आकाशगङ्गाको गिरती धाराओंके मध्यमें स्थित समुद्रकी भी कभी नहीं हुई थी।

टिप्पणी—समुद्र श्यामवर्ण है और उसके दोनों ओर ऊपर से गिरती हुई स्वर्गङ्गा की धाराएँ सफेद, इसी प्रकार भगवान् कृष्ण भी श्यामवर्ण हैं तथा उनके दोनों ओर डुलाये जाते चँवर कमलनालके तंतुओं जैसे स्वच्छ और सफेद। किन्तु ऐसी शोभा समुद्रकी कभी हुई नहीं जैसी उनकी हो रही थी ॥३॥

चित्राभिरस्योपरि मौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि ॥४॥

अन्वय :—अस्य उपरि, मौलिभाजां मणीनाम्, अनणीयसीभिः चित्राभिः भाभिः, अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः गोवर्धनस्य, आकृतिः अन्वकारि।

पदार्थ—अस्य=इस (श्रीकृष्ण) के, उपरि=ऊपर, मौलिभाजां=मुकुटपर जड़े हुए। मणीनाम्=मणियोंकी, अनणीयसीभिः=अत्यन्त महान्। चित्राभिः=विचित्रवर्णों वाली। भाभिः=कान्तियों द्वारा। अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः=विभिन्न रंगोंके धातुओं (गेरु मैनसिल आदि) से मिश्रित है पत्थरोंका समूह (अश्मराशि) जिसका ऐसे। गोवर्धनस्य=गोवर्धन पर्वतकी। आकृतिः=स्वरूपका। अन्वकारि=अनुकरण किया।

सर्वङ्कषा—अथाष्टभिरस्य प्रसाधनविधिं वर्णयन् मुकुटधारणमाह—चित्राभिरिति॥ अस्य=हरेरुपरि=ऊर्ध्वदेशे मौलिभाजां मुकुटगतानां मणीनामनणीयसीभि.=महतीभिश्चित्राभिः=अनेकवर्णाभिर्भाभिः=प्रभाभिः कर्त्रीभिः। 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः। सान्तपक्षे। 'भोभगो-'

इत्यादिना रोर्यकारे तस्य 'हलि सर्वेषाम्' इति लोपः। अनेकैर्धातुभिर्गैरिकादिभिश्छुरितानां=रूपितानामश्मनां=मणीनां राशिः=समूहो यस्य तस्य गोवर्धनाख्यपर्वतस्याकृतिरन्वकारि=अनुकृता। तत्सादृश्यमभाजीत्यर्थः। पूर्णोपमेयम् ॥४॥

भावार्थ—भगवान् कृष्णके मस्तकमें स्थित मुकुटपर जड़े हुए अनेकों रत्नोंकी फैलती हुई विचित्र कान्तियाँ, विभिन्न रंगोंकी प्रभासे मिश्रित पाषाण-समूहवाले गोवर्धन पर्वतका अनुकरण कर रही थी।

टिप्पणी—मल्लिनाथने इसे पूर्णोपमा माना है। हम नहीं समझ पाते कि उपमेय मुकुटके बिना यह पूर्णोपमा कैसे है। हमें तो कविकी रचना ही उचित प्रतीत नहीं होती। उन्हें कहना था भगवान्के मस्तकपर स्थित मुकुट अपनी विचित्र मणियोंकी प्रभासे अनेकधातुच्छुरिताश्मराशिवाले गोवर्धनका अनुकरण कर रहा था, ऐसी स्थितिमें मुकुट और गोवर्धन उपमान-उपमेय होते, प्रभाका प्रसार सामान्य धर्म होता, यद्यपि फिर भी वाचकलुप्ता होती, तथापि उपमा अवश्य कही जाती। किन्तु यहाँ तो कविकी "अनणीयसीभिः भाभिः गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि" यह रचना है, मणियोंकी प्रभाएँ गोवर्धनका अनुकरण कैसे करती हैं यह माघ जानें और दोनों में उपमानोपमेय भाव कैसे होता है यह मल्लिनाथ समझें। इस पद्यमें श्रीकृष्णके गोवर्धन-धारणका स्मरण कराया गया है ॥४॥

तस्योल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा।
अवाप बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनामिवोरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्य उरः, उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा, बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् इव, अवाप।

पदार्थ—तस्य=उस (श्रीकृष्ण) का। उरः=वक्षःस्थल। उल्लसत्=चमकते हुए, काञ्चनकुण्डलाग्र=सुवर्णमय कुण्डलोंके अग्रभाग (नोकमें), प्रत्युप्त=जड़े हुए, गारुत्मतरत्नभासा=पद्मरागमणिकी कान्तिसे। बाल्योचित=बचपनसे अभ्यस्त, नीलकण्ठपिच्छावचूडा=मोरपंखकी मालाके, आकलनाम्=धारण को। अवाप=प्राप्त हुआ।

सर्वङ्कषा—कुण्डले च धृते इत्याह—तस्येति ॥ तस्य=हरेरुरः=उरस्थलमुल्लसन्त्या काञ्चनकुण्डलाग्रयोः प्रत्युप्तानां=खचितानां गारुत्मतरत्नानां=मरकतमणीनां भासा=दीप्त्या। उरसि प्रसरन्त्येति भावः। बाल्यं=शैशवम्। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। तत्रोचितं=मभ्यस्तं यन्नीलकण्ठपिच्छम्=मयूरबर्हम्।

'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्ये' इति यादवः। 'पिच्छवर्हे नपुंसके' इत्यमरः। तेन निर्मितावचूडा=मालिका तस्याः कलनाम्=आमोचनमवमोचनं वा अवापेवेत्युत्प्रेक्षा। 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यदेवोपतर्कितम्। प्रकृते हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते॥' इति लक्षणात्॥ ५॥

भावार्थ—चमकते हुए स्वर्णमय कुण्डलोंके अग्रभागमें जड़े हुए मरकत मणियोंकी कान्तिसे, भगवान् कृष्णका वक्षःस्थल, बचपनसे अभ्यस्त मोरपंखोंकी मालाको धारण किया सा लगने लगा (अर्थात् उन्होंने कुण्डल धारण किये)।

टिप्पणी—भगवान्का वक्ष सांवला है उसपर स्वर्णमय कुण्डलोंकी पीली आभा गोलाकारमें पड़नेसे हरीतिमा आ गई। कुण्डलोंकी नोकोंपर जड़े मरकत-मणियोंकी आभासे बीचमे और भी गहरा रंग हो गया, जो मोरपंख जैसा लगता था। कुण्डल दोनों कानोंमें थे, इससे मोरपंखकी माला जैसी लगती थी। श्रीमल्लिनाथका कलनाका रचना या धारणा अर्थ न करके "आमोचनम् अवमोचनं वा" अर्थ करना समझमें नहीं आता। मुकुट पहिननेके वाद उन्होंने कुण्डल धारण किये, यह तात्पर्य है॥ ५॥

तमङ्गदे मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया मणीनाम्।
वंहीयसा दीप्तिवितानकेन चकासयामासतुरुल्लसन्ती॥ ६॥

अन्वयः—तम् मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया, वंहीयसा, मणीनां दीप्तिवितानकेन, उल्लसन्ती अङ्गदे, चकासयामासतुः।

पदार्थ—तम्=उस (श्रीकृष्णको)। मन्दरकूटकोटि=मन्दराचलकी चोटियोंके। व्याघट्टनोत्तेजनया=टकराने रूप सानपर चढ़ानेसे। वंहीयसा=अत्यन्त। मणीनां=मणियोंके। दीप्तिवितानकेन=कान्ति-समूहसे। अङ्गदे=(दोनों) केयूर (बाजूवन्द)। चकासयामासतुः=शोभित करते थे।

सर्वंकषा—तमङ्गदे इति॥ तं=हरिं मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनं=मन्दराचलशिखराग्रसंघर्षणं सैवोत्तेजना=शाणोल्लेखना तया बंहीयसा=बहुतरेण। 'प्रियस्थिर–' इत्यादिना बहुलशब्दस्येयसुनि वंहादेशः। मणीनां दीप्तिवितानकेन=प्रभापटलेनोल्लसन्ती=दीप्यमाने। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुमागमः। अङ्गदे=केयूरे। 'केयूरमङ्गदं तुल्ये' इत्यमरः। चकासयामासतुः=शोभयांचक्रतुः। अङ्गदे धृतवानित्यर्थः। चकास्तेर्ण्यन्ताल्लिटि आम्प्रत्ययेऽस्तेरनुप्रयोगः। अत्राङ्गदयोः प्राग्भवीयाङ्गदभेदेऽप्यभेदोक्तिमुत्प्रेक्ष्य तयोर्मन्दरकूटकोट्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्त्या द्वयोरतिशयोक्त्योः सङ्करः॥ ६॥

तेनाम्भसां सारमयः पयोधेर्दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः ।
अन्तर्वसन्बिम्बगतस्तदङ्गे साक्षादिवालक्ष्यत यत्र लोकः ॥ ९ ॥

अन्वयः—तेन, दीधितिदीपिताशः, पयोधेः, अम्भसां सारमयः, मणिः, दध्रे यत्र बिम्बगतः लोकः, तदङ्गे, साक्षात् अन्तर्वसन् इव, अलक्ष्यत ।

पदार्थ—तेन=उस (श्रीकृष्ण) ने । दीधितिदीपिताशः=(अपनी) किरणों-से दिशाओंको भासित करनेवाले । पयोधेः=समुद्रके । अम्भसां सारमयः= जलोंका सार रूप । मणिः=(कौस्तुभ नामक) रत्नको । दध्रे=धारण किया । यत्र=जिस (कौस्तुभ) में । बिम्बगतः=प्रतिबिम्बित हुआ । लोकः= संसार । तदङ्गे=उस (श्रीकृष्ण)के देहमें । साक्षात्=प्रत्यक्ष ही । अन्तर्वसन् इव=भीतर रहता हुआ सा । अलक्ष्यत=दीख रहा था ।

सर्वङ्कषा—तेनेति ॥ तेन=हरिणा दीधितिभिर्दीपिता आशा येन सः= दिगन्तविश्रान्ततेजा इत्यर्थः । पयोधेरम्भसां सारस्य विकारः सारमयो मणिः=समुद्रमन्थनोत्थः कौस्तुभाख्य इत्यर्थः । दध्रे=धृतः । धृञ् धारणे । कर्मणि लिट् । यत्र=मणौ बिम्बगतः=प्रतिबिम्बगतो लोको=बाह्यप्रपञ्च-स्तदङ्गे=तस्य हरेः शरीरे साक्षात्=बहिः प्रत्यक्षेण लक्ष्यमाण इत्यर्थः । अन्तर्वसन्=अन्तर्गतो लोक इवालक्ष्यत । यत्र मणौ प्रतिबिम्बितो बाह्यलोकस्त-दङ्ग एव नैर्मल्याद्बहिः प्रतिफलितः कुक्षिस्थलोक इवालक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

भावार्थ—भगवान् कृष्णने, दिशाओंको (अपनी दीप्तिसे) प्रकाशित करनेवाले, समुद्र जलोंके सारभूत मणि (कौस्तुभ) को धारण किया, जिसमें प्रतिबिम्बित जगत् साक्षात् उनके शरीरमें अन्दर स्थित जगत्की तरह दीखता था ।

टिप्पणी—"भगवान् कृष्ण सम्पूर्ण लोकको कुक्षिमें धारण करते थे" इस भावको कविने कई बार दुहराया है, जगन्निवासः, उदूढलोकत्रितयेन आदि । कविका अभिप्राय है कौस्तुभ मणि इतना स्वच्छ है कि उसमें बाह्य जगत्का प्रतिबिम्ब पड़नेपर ऐसा प्रतीत होता है मानो जिस जगत्को वे कुक्षिमें धारण किये रहते हैं, वही दीख रहा है ॥ ९ ॥

मुक्तामयं सारसनावलम्बि भाति स्म दामाप्रपदीनमस्य ।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैस्त्रिस्रोतसः सन्ततधारमम्भः ॥ १० ॥

अन्वय :—अस्य, मुक्तामयं, सारसनावलम्बि, आप्रपदीनं, दाम, अङ्गुष्ठ-निष्ठ्यूतम्, ऊर्ध्वम् उच्चैः, त्रिस्रोतसः, सन्ततधारम्, अम्भः इव, भातिस्म ।

पदार्थ--अस्य=इस (श्रीकृष्णका) । मुक्तामयं=मोतियोंवाला । सारस- । तेन
नावलम्बि=करधनी से (नीचे) लटकता हुआ । दाम=लड़ । अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतं= अंगूठेसे निकले हुए । ऊर्ध्वम्=ऊपरकी ओर । उच्चैः=जोरसे (प्रवाहित) । त्रिस्रोतसः=मन्दाकिनीकी । सन्ततधारम्=निरन्तर निकलती धारावाले । अम्भःइव=जलकी तरह । भातिस्म=प्रतीत होता था ।

सर्वङ्कषा--मुक्तेति ॥ अस्य=हरेर्मुक्तामयं=मुक्ताप्रचुरम् । 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सारसने=कटिसूत्रेऽवलम्बते इति सारसनावलम्बि । 'क्लीबे सारसनं चाथ पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिषु' इत्यमरः । आप्रपदीनम् । आ समन्तात् प्रपदं प्राप्नोतीति, खश्प्रत्ययः । 'पादाग्रं प्रपदं पादः' इत्यमरः । दाम=मुक्तासरः अङ्गुष्ठेन निष्ठ्यूतम्=विसृष्टमित्यर्थः । गौणार्थत्वादग्राम्यत्वम् । यथाह दण्डी--निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुंदरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥' इति ऊर्ध्वम्=ऊर्ध्वप्रवाहमुच्चैः=उन्नतं त्रिस्रोतसः=मन्दाकिन्याः सन्ततधारम्=अविच्छिन्नसंपातमम्भ इव भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥

भावार्थ--कमरकी करधनीसे पैरके अंगूठे तक नीचे लटकती हुई मोतीकी लड़, भगवान्‌के अंगूठेसे निकलकर ऊपरकी ओर वेगसे निरन्तर बहती धारावाले मन्दाकिनीके जलकी तरह प्रतीत होती थी ॥१०॥

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्चूरपिशङ्गवासाः ।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः ॥ ११ ॥

अन्वयः—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्तिः, कर्चूरपिशङ्गवासाः, सः, विसृत्वरैः, अम्बुरुहां, रजोभिः, यमस्वसुः, उदभार, इव, रराज ।

पदार्थ—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्तिः=नीलम मणिके बने फर्श जैसे सांवले शरीरवाले । कर्चूरपिशङ्गवासाः=हरताल जैसे पीले वस्त्रोंवाले । सः=वह (श्रीकृष्ण) । विसृत्वरैः=फैलते हुए । अम्बुरुहां=कमलोंके । रजोभिः=परागोंसे । यमस्वसुः=यमराजकी बहिन (यमुना) के । चित्रः=विचित्र । उदभार इव=जलपूरकी तरह । रराज=शोभित होते थे ।

सर्वङ्कषा--स इति ॥ इन्द्रनीलस्थलमिव नीलमूर्तिः=श्यामाङ्गः । संहितायां 'रोरि' इति रेफलोपः । 'ढ्रलोपे पूर्वस्य-' इति दीर्घः । कर्चूरं=हरितालमिव पिशङ्गं वासो यस्य स=पीताम्बरो हरिः । 'हरितालं तु कर्चूरम्' इति वैजयन्ती । सः=हरिर्विसृत्वरैः=विसृमरैः । 'इणनशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' अम्बुरुहाम्=अम्बुजानाम् । रुहेः क्विप् । रजोभिः=परागैश्चित्रः=चित्रवर्णो

यमस्वसुः=यमुनाया उदस्य भारः पूर उदभारः= जलराशिः स इव रराज। 'मन्थौदन-' इत्यादिनोदकस्योदादेशः ॥ ११ ॥

भावार्थ—नीलमके फर्श जैसे सांवले शरीरपर हरताल जैसे लहराते हुए पीले वस्त्र पहिने श्रीकृष्ण, ऐसे शोभित होते थे मानों नीले यमुनाके जलमें पीला कमलोंका पराग गिरकर फैल रहा हो।

टिप्पणी--"नीलमणि जैसे सांवले" कहनेसे ही उपमा उचित होती "स्थल" बीचमें जोड़ना सहृदयग्राह्य नहीं प्रतीत होता। फर्शसे भगवान् कृष्ण-की उपमा देना ही महाकविको उचित नहीं था। इसी प्रकार कमलके परागोंके लिए विसृत्वरैः (फैलते हुए) जो विशेषण कविने दिया है उसका सधर्मी विशेषण पीत वस्त्रोंके लिए भी होना चाहिये था। ठोक पीट कर बनाई गई उपमा खटकती है ॥ ११ ॥

प्रसाधितस्यास्य मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत्।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रसाधितस्य, अस्य, मधुद्विषः, अन्या, एव, लक्ष्मीः, अभूत्, इति, एतत्, युक्तम्, हि, सा, अशेषे वपुषि, अखिललोककान्ता, इतरा, तु अनन्यकान्ता, उरसि।

पदार्थ--प्रसाधितस्य=अलंकृत। अस्य=इस। मधुद्विषः=मधु (राक्षस) के वैरी (श्रीकृष्ण की)। अन्या एव=दूसरी ही। लक्ष्मीः अभूत्=लक्ष्मी (कमला और शोभा) हुई। इति एतत् युक्तम्=ऐसा यह ठीक ही है। हि=क्योंकि। सा=वह (शोभारूप लक्ष्मी) (जो कि)। अशेषे वपुषि=संपूर्ण शरीरमें (रहती थी)। अखिललोककान्ता=समस्त लोकको प्रिय लगनेवाली थी। इतरा तु=दूसरी (कमला) तो (जो) उरसि=(इसके) हृदयमें रहती है। सा=वह। अनन्यकान्ता=किसी अन्यकी प्रिया नहीं।

सर्वङ्कषा--प्रसाधितस्येति ॥ प्रसाधितस्य=अलंकृतस्यास्य मधुद्विषः= हरेः अन्यैव=असदृशी, विभिन्ना च। 'अन्यौ विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती। लक्ष्मीः=शोभा पद्मा च। 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः। अभूदित्येतद्युक्तम्। कुतः। हि=यस्मात् सा=प्रसाधनरूपा लक्ष्मीरशेषे वपुषि। वसतीति शेषः। किञ्चाखिललोकस्य कान्ता=प्रिया। इतरा=नित्या तु अन्यस्य कान्ता प्रिया न भवतीत्यनन्यकान्ता। किन्तु तस्यै-वेत्यर्थः। उरसि=उरस्येव वसतीत्यर्थः। अत्र हरेः प्रसाधनादसाधारणी शोभा

जातेति पारमार्थिको वाक्यार्थः। अत्र लक्ष्मीशब्देन श्लेषमहिम्ना वाच्यायाः शोभायाः प्रतीयमानायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायादियमन्यैव लक्ष्मीरित्यभेदे भेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः॥ १२॥

भावार्थ—अलंकृत होनेपर इन भगवान् कृष्णकी दूसरी ही लक्ष्मी (शोभा) हो गई थी। यह ठीक ही है क्योंकि वह शोभारूप लक्ष्मी, जो कि उनके सम्पूर्ण शरीरको अलंकृत कर रही थी, सम्पूर्ण जगत्की प्रिया थी, भगवान्के अतिरिक्त, अन्य किसीकी प्रिया नहीं थी। वह कमलारूप लक्ष्मी तो उनके हृदय में रहती थी।

टिप्पणी—कविको कहना यही है कि आभूषण धारण करनेके बाद श्रीकृष्णकी शोभा कुछ दूसरी ही (विलक्षण) हो गई। लक्ष्मी (शोभा और कमला) इस द्व्यर्थक शब्दका प्रयोग कर माघने जो कौशल दिखाना चाहा उसपर उनकी शब्दावली ने पानी फेर दिया। यदि वह यह कहते कि—जो कान्ता उनके केवल वक्षस्थल में छिपी सी रहती थी वह सर्वाङ्गव्यापिनी होकर सबके सामने प्रकट हो गई तो निर्दुष्ट चमत्कार होता। किन्तु उनकी रचना है 'भगवान् की (अनन्यकान्ता) अपनी प्रिया जो लक्ष्मी थी वह तो उनके हृदय में रहती है सारे शरीर में जो लक्ष्मी दीख रही है वह तो अखिल-लोक-कान्ता (सर्वभोग्या–सामान्या) है। इन प्रयोगोंसे अत्यन्त ग्राम्य भाव व्यक्त होता है जो भगवान् कृष्ण जैसे व्यक्तिके लिए उचित नहीं प्रतीत होता ॥१२॥

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य।
आनन्दिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः॥१३॥

अन्वय :—कपाटविस्तीर्ण मनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य, तस्य, आनन्दिताशेषजना, सर्वाङ्गसङ्गिनी, लक्ष्मीः, अपरा एव, बभूव।

पदार्थ—कपाटविस्तीर्ण=किवाड़ों जैसे चौड़े, मनोरमोरःस्थल=मनोहर वक्षःस्थलमें, स्थितश्रीललनस्य=स्थित लक्ष्मीरूप ललनावाले, तस्य=उस (श्रीकृष्णके)। आनन्दिताशेषजना=सकललोकोंको आनन्दित करनेवाली। सर्वाङ्गसङ्गिनी=सारे शरीरमें विद्यमान। लक्ष्मीः=श्री (शोभा)। अपरा एव=दूसरी ही। बभूव=हुई।

सर्वङ्कषा—अर्थान्तरमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—कपाटेति॥ कपाटवद्विस्तीर्णे मनोरमे च उरःस्थले स्थिता श्रीरिति ललना कान्ता यस्य तस्य=हरेरानन्दिता-

शेषजना सर्वाङ्गसङ्गिनी=सकलदेहव्यापिनी अत एव अपरा एव=साधारण्येव श्रीदेव्या अन्यैव लक्ष्मीः=शोभा, रमा च बभूव। स एवालङ्कारः। प्रायेणैकार्थमप्यनेकं श्लोकमुक्तिविशेषलाभाल्लिखन्ति कवयः। यथाह नैषधे—आदावेव 'निपीय—' (१।१) इत्यादिश्लोकद्वयं; तथा 'स्वकेलिलेश—' (१।२३) इत्यादिश्लोकद्वयं चेति ॥१३॥

भावार्थ—किवाड़ जैसे चौड़े मनोहर उरःस्थलमें स्थित लक्ष्मीरूप प्रियावाले उस (श्रीकृष्ण) को सकल लोगोंको आनन्दित करनेवाली सर्वशरीर व्यापिनी लक्ष्मी (शोभा) तो दूसरी ही हो रही थी।

टिप्पणी—शास्त्रोंमें यह प्रसिद्ध है कि भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें चिह्नरूपमें लक्ष्मी निरन्तर वास करती हैं, इसी कारण उन्हें श्रीवत्सवक्षा कहा जाता है। इस श्लोकमें १२ की टिप्पणीमें दिया गया दोष तो है ही पुनरुक्ति भी स्पष्ट है। अविकल वही भाव दुहरा दिया है जो श्लोक १२ में कहा था ॥१३॥

प्राणच्छिदां दैत्यपतेर्नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः स्तनौ तरुण्यः परिवव्रुरेनम् ॥१४॥

अन्वय—भूषणताम्, उपेयुषां, दैत्यपतेः, प्राणच्छिदां, नखानां, क्षतेन, प्रकाशकार्कश्यगुणौ, स्तनौ, दधानाः, तरुण्यः, एनं, परिवव्रुः।

पदार्थ—भूषणतामुपेयुषां=भूषणताको प्राप्त। दैत्यपतेः=हिरण्यकशिपुके, प्राणच्छिदां=प्राणोंको नष्ट करनेवाले। नखानां=नखोंके। क्षतेन=घावसे। प्रकाशकार्कश्यगुणौ=स्पष्ट रूपसे कठोरता रूप गुणको (धारण किये)। स्तनौ=स्तनोंको, दधानाः=धारण की हुई। तरुण्यः=युवतियाँ। एनं=इस (श्रीकृष्ण) को। परिवव्रुः=घेर लीं।

सर्वङ्कषा—अथ देवीसहचरस्यैवास्य यात्रेति सूचयन् प्रसाधनविधेः फलमाह—प्राणेति ॥ भूषणतामुपेयुषाम्, न तु प्रहरणवतामिति भावः। दैत्यपतेः =हिरण्यकशिपोः प्राणच्छिदां=प्राणमुषां प्राणापहारिणाम्। वज्रादपि कठोराणामित्यर्थः। नखानां क्षतेन=व्रणेन प्रकाशो=व्यक्तः कार्कश्यमेव गुणो ययोस्तौ स्तनौ। स्तनानित्यर्थः। जातावेकवचने प्राप्ते जातिभूयस्सु स्तनादिषु जातेर्द्वित्वविशिष्टत्वाद् द्विवचनम्। यथाह वामनः—'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण' इति। दधानास्तरुण्यः युवतयः। 'वयसि प्रथमे' इति ङीप्। एनम्= हरिं परिवव्रुः। अत्र हरिनखानां नरहरिनखभेदेऽप्यभेदोक्त्या स्तनयोश्च तादृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यतिशयोक्ती तयोश्च सापेक्षत्वात् संकरः ॥१४॥

भावार्थ—दैत्यराज हिरण्यकशिपुका प्राण ले लेनेवाले (कठोर, श्रीकृष्णके) नखोंके क्षत जिनपर शोभित होकर उनकी कठोरताको व्यक्त कर रहे हैं, ऐसे स्तनोंवाली युवतियोंने इनको (श्रीकृष्णको) घेर लिया।

टिप्पणी—युवतियों (श्रीकृष्ण-पत्नियोंके) घेर लेनेका अर्थ है कि वे भी उनके साथ जानेको तैयार हो गईं। नखक्षत स्त्रियों की सौभाग्यशालिता-का सूचक है अतः काव्योंमें इसका प्रायः वर्णन किया जाता है। हिरण्य-कशिपुका प्राणान्त करनेवाले नखोंसे श्रीकृष्णके नृसिंहावतारका स्मरण किया गया है और वज्रके समान कठोर जिन नखोंसे महादैत्यका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया, वे नख जिनपर केवल क्षतमात्र कर पाये, इस कथनसे स्तनों-की कठोरता व्यक्त होती है ॥१४॥

आकर्षतेवोर्ध्वमतिकृशीयानत्युन्नतत्वात्कुचमण्डलेन।
ननाम मध्योऽतिगुरुत्वभाजा नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम् ॥१५॥

अन्वय :—अत्युन्नतत्वात्, ऊर्ध्वम्, आकर्षता, इव, अतिगुरुत्वभाजा, कुचमण्डलेन, नितान्तम्, आक्रान्तः, इव, अतिकृशीयान्, अंगनानां मध्यः ननाम।

पदार्थ—अत्युन्नतत्वात्=अत्यन्त ऊँचा होने से। ऊर्ध्वम्=ऊपरकी ओर। आकर्षता इव=खींचते हुए से। अतिगुरुत्वभाजा=अत्यन्त भार को (महत्त्व को) धारण करते हुए। कुचमण्डलेन=स्तनोंके घेरेसे। नितान्तं=निरन्तर। आक्रान्तः इव=दबाया हुआ सा। अतिकृशीयान्=अत्यन्त दुबला। अङ्गनानां=(उन) तरुणियोंका, मध्यः=कटिभाग। ननाम=झुक गया था।

सर्वङ्कषा—आकर्षतेति॥ अत्युन्नतत्वाद्धेतोः ऊर्ध्वमाकर्षतेव नमन्तम् मध्यमुन्नमयतेव स्थितेनेत्युत्प्रेक्षा। अतिगुरुत्वम्=अतिभारत्वम्, अतिप्रवृद्धत्वं च भजतीति भाक्। 'भजो ण्विः' तेनाङ्गनानां कुचमण्डलेनातिकृशीयान्=अत्यन्तकृशतरः तनीयान्, क्षीणश्च। 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति रेफादेशः। मध्यो नितान्तमाक्रान्तः=पीड़ित इव ननाम=नतः, प्रणतश्च। अत्र मध्यकुचमण्डलयोर्विशेषणसाम्यादरिविजिगीषुराजप्रतीतेः समासोक्तिः। तथा वाच्ययोः प्रतीयमानाभेदेनाक्रमणक्रियाकर्मकर्तृभावसम्भावितेयं नमनस्या-क्रमणहेतुकत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोः संकरः। उत्प्रेक्षयोस्तु नैरपेक्ष्यादसंसृष्टिरेवेति विवेकः ॥१५॥

भावार्थ—अत्यन्त ऊंचे होनेसे ऊपरकी ओर खींचते हुए से विशाल-स्तनमण्डल द्वारा अत्यन्त सताया हुआ सा, अतः अत्यन्त दुबला, इन तरुणियोंका मध्यभाग झुक गया था।

अन्वयः—विरोधिनां, विग्रहभेददक्षा, क्वचित्, अस्खलन्ती, नित्यं, सन्निहिता, मूर्ता, शक्तिः, इव, कौमोदकी, हरेः, चेतः, निकामं, मोदयतिस्म ।

पदार्थ—विरोधिनां=विरोधियों (शत्रुओं)के । विग्रहभेददक्षा=शरीरको नष्ट करनेमें कुशल । क्वचित्=कहीं भी । अस्खलन्ती=निष्फल न होनेवाली । नित्यं=सर्वदा । सन्निहिता=समीपमें रहनेवाली । मूर्ता=मूर्तिमती । शक्तिः इव=सामर्थ्यकी तरह । कौमोदकी=(इस नामकी) गदा । हरेः=श्रीकृष्णके । चेतः=चित्तको । मोदयतिस्म=आनन्दित करती थी ।

सर्वङ्कषा—विरोधिनामिति ॥ विरोधिनां=वैरिणां विग्रहभेदे=शरीरविदारणे दक्षा । 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । क्वचित्=क्वाप्यस्खलन्ती=सर्वत्राप्रतिहतवृत्तिरित्यर्थः । नित्यं सन्निहिता=अनपायिनी । अत एव मूर्ता=मूर्तिमती शक्तिः=सामर्थ्यमिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । कौमोदकी=गदा हरेश्चेतो निकामं मोदयति स्म । स्वसन्निधानेनेति भावः ॥

भावार्थ—शत्रुओंके शरीरोंको नष्ट करनेमें कुशल, कभी निष्फल न होनेवाली, नित्य समीपवर्तिनी, मूर्तिमान् सामर्थ्य जैसी, कौमोदकी नामकी गदाने श्रीकृष्णके चित्तको उल्लसित किया ।

टि०—अर्थात् सुदर्शन चक्रके बाद उन्होंने कौमोदकी गदाको धारण किया । एक एक करके भगवान् कृष्णके दिव्य अस्त्र उनके पास आने लगे ॥१८॥

न केवलं यः स्वतया मुरारेरनन्यसाधारणतां दधानः ।
अत्यर्थमुद्वेजयिता परेषां नाम्नापि तस्यैव स नन्दकोऽभूत् ॥१९॥

अन्वय :—अनन्यसाधारणतां, दधानः, यः, केवलं, मुरारेः, स्वतया न, परेषाम्, अत्यर्थम्, उद्वेजयिता (सन्), नाम्नापि स तस्यैव नन्दकः अभूत् ।

पदार्थ—अनन्यसाधारणतां=दूसरोंके लिये असामान्यताको । दधानः=धारण करता हुआ । यः जो (नन्दक नामका खड्ग) केवलं=केवल । मुरारेः=श्रीकृष्णका । स्वतया न=अपना होनेसे नहीं । परेषां=शत्रुओंका । अत्यर्थम्=अत्यन्त । उद्वेजयिता=उद्वेगकारक । नाम्नापि=नामसे भी । तस्यैव=उसी (श्रीकृष्ण) का । नन्दकः=आनन्दित करनेवाला । अभूत्=हुआ ।

सर्वङ्कषा—न केवलमिति ॥ अन्यस्य साधारणो न भवतीति अनन्यसाधारणस्तस्य भावस्तत्ता तां दधानः, तथापि यो नन्दकः स्वतया=केवलं गजाश्वादिवत्स्वेनैवं मुरारेर्नन्दको न, किन्तु परेषां=शत्रणामत्यर्थमुद्वेजयिता=भीषयिता

सन् । अत एव नाम्नापि=चन्द्रादिवन्नन्दयतीति नन्दक इत्यन्वर्थसंज्ञाबलेनापि । नन्दयितृत्वेनापीति यावत् । तस्यैव=तदीय एव योऽन्यसाधारणत्वात्परोद्वेजकत्वाच्च तस्यैव नन्दकः, नन्दयिता चेत्यर्थः । स नन्दको=नन्दकाख्यः खड्गोऽभूत् । सन्निहितोऽभूदित्यर्थः । सम्बन्धानुवादेन सन्निधानमेवात्र निधेयं प्रकरणात् । अत्रान्यसाधारणत्वपरोद्वेजकत्वपदार्थाभ्यां विशेषणगत्या नन्दकस्य तदीयतासमर्थनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥१९॥

भावार्थ—दूसरोंके लिए असामान्यसा जो, केवल श्रीकृष्णका अपना है इसलिये नहीं प्रत्युत शत्रुओंका उद्वेजक होनेके कारण (नन्दक इस) नाम से भी उनको आनन्द ही देनेवाला था ।

टि०—ऐसा नन्दक नामका खड्ग भी उनके पास आ उपस्थित हुआ । नन्दक शब्दका अर्थ है आनन्द करने (देने) वाला । श्रीकृष्णके खड्गका नाम नन्दक था । वह केवल नाममात्रसे ही नन्दक था या श्रीकृष्णका अपना होनेसे उन्हें प्रिय था, ऐसी बात नहीं प्रत्युत शत्रुओंका अत्यन्त संहारक होने से भी वह उनके लिए नन्दक (आनन्ददायक) था, यह भाव है ॥१९॥

न नीतमन्येन नतिं कदाचित्कर्णान्तिकप्राप्तगुणं क्रियासु ।
विधेयमस्याभवदन्तिकस्थं शार्ङ्गं धनुर्मित्रमिव द्रढीयः ॥२०॥

अन्वय—अन्येन, कदाचित्, नतिं, न, नीतं, क्रियासु, कर्णान्तिकप्राप्तगुणं, विधेयं, द्रढीयः, शार्ङ्गं, धनुः, (एवंभूतं) मित्रमिव, अस्य, अन्तिकस्थम्, अभवत् ।

पदार्थ—अन्येन=दूसरेसे । कदाचित्=कभी । नतिं=झुकावको । न नीतं=न प्राप्त । क्रियासु=लड़ाइयोंमें । कर्णान्तिकप्राप्तगुणं=कानके समीप पहुँची है डोरी (मौर्वी) जिसकी, ऐसा । विधेयं=वशीभूत । द्रढीयः=अत्यन्त दृढ़ । शार्ङ्गं धनुः=सींगसे बना (या शार्ङ्ग नामक) धनुष (कदाचित् नतिं न नीतं=कभी दूसरेके द्वारा अपनी ओर न झुकाये जानेवाले । क्रियासु=कार्योंमें । विधेयं=वशीभूत । कर्णान्तिकप्राप्तगुणं=कानके पास आकर गुण (अच्छी राय) देनेवाले । द्रढीयः=दृढ़तम । मित्रमिव=मित्रकी तरह । अस्य=इस (श्रीकृष्ण) के । अन्तिकस्थं=समीपमें । अभवत्=(उपस्थित) हो गया ।

सर्वङ्कषा—न नीतमिति ॥ अन्येन=पुरुषान्तरेण नतिम्=आकर्षणं भेदेन स्वानुकूल्यं च न नीतं=न प्रापितम्, क्रियासु=रणकर्मसु, हिताहितकृत्येषु च कर्णान्तिकं=कर्णगोचरं प्राप्तो गुणो=मौर्वी, आप्तताधर्मश्च यस्य तद्विधेयं क्रियासु वश्यं द्रढीयः=दृढ़तरम् । पीडासहतरमिति यावत् । शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गं नाम धनुः मित्रमिवास्य=हरेरन्तिकस्थं=सन्निहितमभवत् ॥२०॥

भावार्थ—जिसे दूसरा कोई झुका नहीं सकता, लड़ाईमें कानतक जिसकी डोरी खींची जाती है, जो अत्यन्त वशीभूत है ऐसा दृढ़ शार्ङ्ग धनुष (जिसे कोई अपने पक्षमें नहीं कर सकता, जो सदा सत्परामर्श देता है और कार्योंमें अपने अधीन रहता है ऐसे दृढ़) मित्रकी तरह समीप आ उपस्थित हुआ ॥ २० ॥

प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः ।
मन्दानिलापूरकृतं दधानो निध्वानमश्रूयत पाञ्चजन्यः ॥२१॥

अन्वयः—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः, कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः, मन्दानिलापूरकृतं निध्वानं दधानः, पाञ्चजन्यः अश्रूयत ।

पदार्थ—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः=बढ़ता हुआ और गम्भीर बादलकी सी मनोहर ध्वनिवाला । कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः=कृष्णरूपी समुद्रके समीप विचरण करनेवाले एक हंस-सा । मन्दानिलापूरकृतं=मन्द-मन्द वायुके भरनेसे उत्पन्न । निध्वानं=ध्वनिको । दधानः=धारण करता हुआ । पाञ्चजन्यः=इस नामका शंख । अश्रूयत=सुनाई दिया ।

सर्वङ्कषा—प्रवृद्धेति ॥ धियं रातीति धीरो=मनोहरः मन्द्रो=गम्भीरोऽम्बुदस्य=मेघस्येव धीरश्च नादः प्रवृद्धो येन सः प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनाद इत्युपमा । कृष्ण एवार्णवः=समुद्रस्तस्याभ्यर्णचरः=अन्तिकचरः । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा' इत्यमरः । स चासावेकहंसश्चेति श्लिष्टपरम्परितरूपकम् । मन्दानिलस्य आपूरः=आपूरणं तेन कृतं=जनितं निध्वानं दधानः । अनाध्मातोऽपि मन्दमारुतप्रवेशादेव ध्वनतीति पाटवादतिशयोक्तिः । ध्वन्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धकथनात् । पञ्चजनो नाम कश्चिदसुरस्तत्र भवः पाञ्चजन्योऽस्य शङ्खः । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च वक्तव्यम्' इति ञ्यप्रत्ययः । अश्रूयत=श्रूयते स्म । पाञ्चजन्योऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः । वीणा श्रूयते, पुष्पाण्याघ्रायन्ते इत्यादिवद्धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात्पाञ्चजन्यस्य श्रवणोक्तिः ॥२१॥

भावार्थ—मेघकी गर्जनाके समान क्रमशः बढ़ती हुई, गम्भीर और मनोहर ध्वनिवाला, कृष्णरूप समुद्रके समीपवर्ती राजहंस-सा, धीरे-धीरे मुखकी वायुके प्रवेशसे उत्पन्न शब्दको धारण करता हुआ पाञ्चजन्य सुनाई पड़ा ।

टिप्पणी—कृष्ण साँवले हैं अतः उनमें समुद्रका आरोप किया है और पाञ्चजन्य सफेद है इसलिये उसमें हंसका । जैसे साँवले समुद्रमें सफेद हंस दीखता है ऐसे ही साँवले कृष्णके हाथमें पाञ्चजन्य उपस्थित हो गया यह तात्पर्य है । ऊपर कहे हुए धनुष आदिके लिए समीपमें उपस्थित हुए, ऐसा प्रयोग

किया है किन्तु पाञ्चजन्यके लिए अश्रूयत (=सुना गया) प्रयोग है। जैसे वीणाका शब्द सुनाई पड़ता है, फूलोंको गन्ध सूँघी जाती हैं फिर भी वीणा सुनाई पड़ी फूल सूँघे गये ऐसा प्रयोग होता है क्योंकि धर्म और धर्मीमें अभेद कर लिया जाता है, इसी प्रकार पाञ्चजन्य सुना गया यह प्रयोग भी है। अभ्यर्ण शब्द समीपवाची है 'अभ्यर्द्यतेस्म' इस अर्थमें अभिपूर्वक अर्द् गतौ धातुसे क्त प्रत्यय, निष्ठाके तको न 'अभेश्चाविदूर्ये' सूत्रसे इट्का अभाव। टीकाकार वल्लभने "प्रवृद्धमन्द्राम्बुदनादधीरम्" पाठ माना है जो अपेक्षाकृत अच्छा है ॥२१॥

रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम्।
महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरूढः ॥२२॥

अन्वय :—महारथः, रथाङ्गी, इष्टसिद्धेः सम्पादकं, सर्वासु दिक्षु अप्रतिषिद्धमार्गं, क्षिप्रं, पुष्यरथम्, अधिरूढः (इष्टसिद्धेः सम्पादकं, सर्वासु दिक्षु अप्रतिषिद्धमार्गं क्षिप्रं पुष्यरथं आरूढः) क्षपानाथ इव रराज।

पदार्थ—महारथः=महारथी। रथाङ्गी=चक्रधारी (श्रीकृष्ण)। इष्टसिद्धेः सम्पादकं=मनोरथपूर्ण करनेवाले। सर्वासु दिक्षु=सभी दिशाओंमें। अप्रतिषिद्धमार्गं=बेरोक-टोक जानेवाले। क्षिप्रं=द्रुतगामी। पुष्यरथं=पुष्य नामक रथमें। अधिरूढः=आरूढ़ हुए। (इष्टसिद्धेः संपादकं=मनोरथ पूर्ण करनेवाले। सर्वासु दिक्षु अप्रतिषिद्धमार्गं=सब दिशाओंमें जानेके लिए प्रशस्त। क्षिप्रं=क्षिप्रसंज्ञक। पुष्यरथं=पुष्यनक्षत्ररूप रथमें। अधिरूढः=आरूढ़ हुए) क्षपानाथ इव=चन्द्रमाकी तरह। रराज=शोभित हुए।

सर्वङ्कषा—रराजेति ॥ महान् रथो यस्य महारथः=रथिकविशेषः। 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युद्धयेत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥' इति। रथाङ्गं चक्रमस्यास्तीति रथाङ्गी=हरिः इष्टसिद्धेः सम्पादकं लक्षणवत्त्वात्। 'पुष्यः सर्वार्थसाधकः' इति शास्त्रादिति भावः। सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम्=अनिषिद्ध-गमनमित्यर्थः। अधिष्ठानशक्तेर्निरङ्कुशत्वात्। 'पुष्यो हस्तो मैत्रमप्याश्विनश्च चत्वार्याहुः सर्वदिग्द्वारकाणि' इति शास्त्रादिति भावः। क्षिप्रगामिनम्, अन्यत्र क्षिप्रनामकम्। 'क्षिप्रं चाश्विदिनेशपुष्यम्' इति शास्त्रात्। पुष्यरथं=क्रीडारथम्। 'असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत्' इत्यमरः। अधिरूढः सन् पुष्यो रथ इव तं पुष्यरथमधिरूढः पुष्यनक्षत्रगतः क्षपानाथः=चन्द्र इव रराज ॥२२॥

भावार्थ—महारथी एवं चक्रधारी श्रीकृष्ण, (आरूढ़ व्यक्तिकी) इच्छाके अनुसार चलनेवाले, सभी दिशाओंमें अप्रतिहत गतिवाले, शीघ्रगामी पुष्यनामक

रथपर आरूढ़ हुए (कार्य सिद्धि करनेवाले, सभी दिशाओंमें यात्राके लिये प्रशस्त तथा क्षिप्र नामक पुष्यनक्षत्ररूप रथपर आरूढ़ हुए) चन्द्रमा जैसे शोभित हुए।

टिप्पणी—भगवान् कृष्ण अपने पुष्यरथपर आरूढ़ हुए। उनका रथ इष्ट-सिद्धिका संपादक अर्थात् चालककी इच्छानुसार चलनेवाला है, किसी भी दिशामें वेरोक-टोक जा सकता है, क्षिप्र=(शीघ्रगामी) है। उस समय वे पुष्य नक्षत्ररूप रथपर आरूढ़ हुए चन्द्रमा जैसे शोभित हो रहे थे, क्योंकि पुष्य भी इष्टसिद्धिका संपादक है अर्थात् इस नक्षत्रमें जो कार्य किया जाय वह सिद्ध होता है, यह सर्वदिग्द्वार नक्षत्र कहा जाता है अर्थात् इस नक्षत्रमें किसी भी दिशाकी यात्रा की जा सकती है। पुष्य, हस्त, श्रवण और अश्विनी ये ४ नक्षत्र सर्वदिग्द्वार कहलाते हैं। यह क्षिप्र संज्ञक नक्षत्र है।

यहाँ केवल पुष्यरथके श्लेपको पूर्ण करनेकी दृष्टिसे श्रीकृष्णकी चन्द्रमासे उपमा दी गई हैं अन्यथा साँवले श्रीकृष्ण श्वेत चन्द्रमाके उपमेय कैसे हो सकते हैं यह माघ ही समझें। महारथः और रथाङ्गीमें विरोधाभास भी है ॥२२॥

ध्वजाग्रधामा ददृशेऽथ शौरेः संक्रान्तमूर्तिर्मणिमेदिनीषु।
फणावतस्त्रासयितुं रसायास्तलं विविक्षन्निव पन्नगारिः ॥२३॥

अन्वय :—अथ शौरेः, ध्वजाग्रधामा, फणावतः त्रासयितुं रसायाः तलं विविक्षन् इव, मणिमेदिनीषु संक्रान्तमूर्तिः, पन्नगारिः ददृशे।

पदार्थ—अथ=रथारुढ़ होनेके वाद। शौरेः=श्रीकृष्णकी। ध्वजाग्रधामा=ध्वजाके अग्रभागमें रहनेवाला। फणावतः=फनोंवाले (सर्पोंको)। त्रासयितुं=डरानेके लिए। रसायाः=पृथ्वीके। तलं=नीचे (पातालमें)। विविक्षन् इव=घुसनेकी चेष्टा करता हुआ सा। मणिमेदिनीषु=मणिमय भूमि (फर्श)पर। संक्रान्तमूर्तिः=प्रतिविम्बित देहवाला। पन्नगारिः=गरुड़। ददृशे=दिखाई दिया।

सर्वङ्कषा—ध्वजेति ॥ अथ रथारोहणानन्तरं शौरेः=कृष्णस्य ध्वजाग्रं धाम=स्थानं यस्य सः। मणिमेदिनीषु=मणिमयकुट्टिमेषु संक्रान्त-मूर्तिः=प्रतिविम्बिताङ्गः सन् पन्नगारिः=गरुत्मान् फणावतः=सर्पान् त्रास-यितुं=द्रावयितुं रसायास्तलं=पातालं विविक्षन्। प्रवेष्टुमिच्छन्निवेत्युत्प्रेक्षा। विशतेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। ददृशे=दृष्टः। सोऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः ॥२३॥

भावार्थ—भगवान् कृष्णकी ध्वजाके अग्रभागमें रहनेवाला, सर्पोंको

रानेके लिए पातालमें प्रवेश करना चाहता हुआ सा, मणिमय फर्शपर पड़ते
ए प्रतिबिम्बवाला गरुड़ भी वहाँ दीख पड़ा (उपस्थित हो गया)।

टिप्पणी—जिस देवताका जो वाहन है उसीका चिह्न उस देवताकी
ध्वजापर रहता है। भगवान् विष्णुका वाहन गरुड़ है अतः उनकी ध्वजापर
गरुड़की मूर्ति बनी है और उन्हें गरुड़ध्वज कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य
देवता भी, जैसे शिवजी वृषभध्वज, गणेश मूषकध्वज आदि कहे जाते हैं।
ऊँची ध्वजामें बने गरुड़का प्रतिबिम्ब मणिमय फर्शपर पड़ रहा है, कवि उत्प्रेक्षा
करता है कि भूमिके अन्दर दीखते हुए गरुड़के प्रतिबिम्बसे प्रतीत होता है कि
मानो वह पातालमें नागोंको डरानेके लिए जा रहा है। नागलोक पातालमें रहते
हैं ऐसा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। जहाँ भगवान् कृष्णकी सारी सामग्री वहाँपर उप-
स्थित हुई वहाँ उनका वाहन गरुड़ भी उपस्थित हो गया, यह तात्पर्य है ॥२३॥

यियासतस्तस्य महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः।
जलान्तराणीव महार्णवौघः शब्दान्तराण्यन्तरयाञ्चकार ॥२४॥

अन्वय :—यियासतः तस्य, महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः,
महार्णवौघः जलान्तराणि इव, शब्दान्तराणि, अन्तरयाञ्चकार।

पदार्थ—यियासतः=यात्राकी इच्छावाले। तस्य=उस (श्रीकृष्ण) का।
महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान्=पर्वतोंके छिद्रोंको फाड़ डालनेमें समर्थ। पटहप्रणादः=
नगाड़ेका शब्द। महार्णवौघः=महासमुद्रके जलका प्रवाह। जलान्तराणि इव=
अन्य जलोंको जैसे। शब्दान्तराणि=अन्य (वाद्योंके) शब्दोंको। अन्तरयाञ्च-
कार=ढक देता था।

सर्वङ्कषा—यियासत इति ॥ यातुमिच्छतो यियासतः। यातेः सन्नन्ता-
ल्लटः शत्रादेशः। तस्य=हरेः सम्बन्धी। महीं धरन्तीति महीध्राः=पर्वताः।
मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। यदाह वामनः—'महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात्'
इति। तेषां रन्ध्राणि=विलानि तेषां भिदा=भेदनम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्'
तस्यां पटीयान्=समर्थतरः पटहप्रणादः=आनकघोषः महार्णवस्यौघः=समुद्रस्य
प्रवाहः। अन्यानि जलानि जलान्तराणीव। 'सुप्सुपा—' इति समासः। अन्यान्
शब्दान् शब्दान्तराणि। पूर्ववत्समासः। अन्तरयाञ्चकार=अन्तर्हितानि
चकार। छादयामासेत्यर्थः। अन्तरशब्दादन्तर्धानार्थात् 'तत्करोति—' (ग०)
इति ण्यन्ताल्लिट्। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्युभय-
त्राप्यमरः ॥२४॥

भावार्थ—भगवान् कृष्णके यात्राके लिए प्रस्थान करते समय, पर्वतोंके छिद्रोंको भी फाड़ डालनेवाला जो नगाड़े बजनेका शब्द हुआ उससे दूसरे वाद्योंके शब्द ऐसे दब गये जैसे महासमुद्रके जलका प्रवाह अन्य जलोंको दबा लेता है।

टिप्पणी—भगवान्की यात्राके प्रस्थानके समय जो नगाड़ा बजा उसकी गर्जनाके सामने दूसरे कोई शब्द सुनाई नहीं पड़ते थे, यह तात्पर्य है ॥२४॥

यतः स भर्ता जगतां जगाम धर्त्रा धरित्र्याः फणिना ततोऽधः।
महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे ॥ २५ ॥

अन्वयः—जगतां भर्ता सः, यतः जगाम, धरित्र्याः धर्त्रा फणिना, ततः अधः, महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे।

पदार्थ—जगतां भर्ता=संसारको धारण करनेवाले। सः=वह (श्रीकृष्ण)। यतः जगाम=जहाँ जाते (जहाँपर पैर रखते)। ततोऽधः=उसके नीचे। धरित्र्याः धर्त्रा=पृथ्वीको धारण करनेवाले। फणिना=सर्प (शेषनाग) द्वारा। महाभर=अत्यन्त भारसे। आभुग्न=झुके हुए। शिरःसहस्र=हजारों मस्तकोंकी। साहायक=सहायतामें। व्यग्रभुज=व्यस्त भुजाओंवाला होकर। प्रसस्रे=सरका जाता था।

सर्वङ्कषा—यत इति ॥ जगतां भर्ता=धारयिता। कुक्षिस्थाखिललोक इत्यर्थः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी। सः=हरिः यतः=येन भूमार्गेण जगाम ततः=तस्मिन्भूभागे अधः=पाताले धरित्र्याः=धरण्याः धर्त्रा=धारयित्रा। पूर्ववत्षष्ठी। फणिना=शेषेण। महता भरेण आसमन्ताद् भुग्नस्य=कुब्जीभूतस्य शिरःसहस्रस्य सहायके=सहायकर्माणि। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्-' व्यग्राः=त्वरमाणा भुजा यस्मिंस्तद्यथा तथा प्रसस्रे=प्रसृतम्। भावे लिट्। हरिश्चचालेत्यर्थः अत्र शेषस्य त्रिशिष्टप्रसरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २५ ॥

भावार्थ—त्रिभुवनको अपने उदरमें धारण करनेवाले श्रीकृष्ण जहाँपर पैर रखते थे उसके नीचे, पृथ्वीको धारण करनेवाला शेषनाग, अत्यन्त भारके कारण दब जानेसे झुके हुए अपने हजारों फणाओंको शीघ्र हाथोंका सहारा देकर तब आगे सरकता था।

टिप्पणी—लोकमें भी देखा जाता है कि मस्तकपर बोझ भारी हुआ तो उसे हाथोंका सहारा देते हैं। इसी प्रकार त्रिभुवनको अपनी कुक्षिमें धारण

करनेवाले श्रीकृष्ण जहाँपर पैर रखते थे वहीं पृथ्वी इतनी दब जाती थी कि पृथ्वीको मस्तकपर धारण करनेवाले शेषनागके हजारों फण भारसे झुकने लगते थे। वह व्यग्र होकर शीघ्र ही हाथोंका सहारा देता था और तब आगे खिसकता था। त्रिभुवनके धारक होनेसे कृष्णका भारी होना और उससे पृथ्वीका भार बढ़ना, इस उक्तिको भी माघने कई बार दुहराया है जो एक महाकवि के लिए उचित नहीं प्रतीत होता। सर्प (शेषनाग) के हाथ हों और वे भी ऐसे समर्थ हाथ जो मस्तकके इतने बड़े बोझको सम्हालनेमें व्यग्रता दिखाएँ, यह कल्पना माघ ही कर सकते हैं॥ २५ ॥

अथोच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि ।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम् ॥२६॥

अन्वयः—अथ, उच्चकैः तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि सैन्यानि, सोमान्वयं तं, क्रियाफलानि सुनीतिभाजम् इव अन्वयुः ।

पदार्थ—अथ=श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर । उच्चकैः=ऊँचे । तोरण-सङ्गभङ्गभयात्=बाहरी फाटकके ऊपरी भागसे टकराकर टूट जानेकी डरसे, अवनम्रीकृतकेतनानि=झुका दी हैं पताकाएँ जिन्होंने, ऐसे । सैन्यानि=सेनाके लोग । सोमान्वयं तं=चन्द्रवंशी उस (श्रीकृष्ण) को । क्रियाफलानि=सत्कर्मोंके फल । सुनीतिभाजम् इव=नीतिज्ञ पुरुषको जैसे । अन्वयुः=पीछे-पीछे चलने लगे ।

सर्वङ्कषा—अथेति॥ अथ=हरिचलनानन्तरम् उच्चकैः=उन्नते तोरणे=द्वारदारुणि सङ्गेन भङ्गस्तस्माद्भयेनावनम्रीकृतानि केतनानि यैस्तानि सैन्यानि। सोमस्यान्वयः सन्तानः तं सोमान्वयं=चन्द्रवंशिनं। हरिं सुनीतिभाजं=सुष्ठुनीतिमन्तं क्रियाः=सामाद्युपायप्रयोगास्तासां फलानि=हिरण्य-भूमित्रादिलाभा इवान्वयुः=अन्वगच्छन् । यातेर्लङ् 'लङः शाकटायनस्य-' इति झेर्जुस् ॥ २६ ॥

भावार्थ—श्रीकृष्णके प्रस्थान करनेपर, ऊँचे बहिर्द्वारसे टकराकर टूटनेकी डरसे पताकाओंको झुकाते हुए सैनिक लोग, उस चन्द्रवंशी श्रीकृष्णके पीछे-पीछे ऐसे चले जैसे कि नीतिज्ञ पुरुषके पीछे-पीछे उसके कर्मोंके फल चलते हैं ।

टिप्पणी—नीतिज्ञ पुरुष जो भी काम करता है विचारपूर्वक करता है । अतः उसके काम अवश्य फलीभूत होते हैं । जैसे नीतिज्ञ पुरुषके पीछे-पीछे उसकी कार्य-सिद्धियाँ दौड़ती हैं वैसे ही श्रीकृष्णके पीछे-पीछे सैनिक चलने

लगे। शहरके अन्दर जो फाटक होते हैं वे गोपुर कहलाते हैं और शहरसे वाहर निकलनेका जो अन्तिम मुख्य फाटक होता है उसे तोरण कहते हैं। "तोरणोऽस्त्री वहिर्द्वारं पुरद्वारं तु गोपुरम्" अमर०। यहाँ भी प्रस्थान करते ही झंडोंको टूटनेके भयसे झुका लेनेमें माघको क्या औचित्य प्रतीत हुआ, यह हम नहीं समझ पाते ॥ २६ ॥

श्यामारुणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः।
आनेमिमग्नैः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे रथौघैः ॥२७॥

अन्वयः—श्यामारुणैः वारणदानतोयैः आलोडिताः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः काञ्चनभूपरागाः, आनेमिमग्नैः रथौघैः चुक्षुदिरे।

पदार्थ—श्यामारुणैः=सांवले और लालिमासे युक्त। वारणदानतोयैः=हाथियोंके मदजलोंसे। आलोडिताः=सने हुए। शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः=मोरपंखोंके चूर्णके समान कान्तिवाले। काञ्चनभूपरागाः=सुनहरी भूमियोंकी धूलियाँ। आनेमिमग्नैः=पहियों तक धँसे हुए। रथौघैः=रथोंके समूहोंसे। चुक्षुदिरे=चूर-चूर कर दी गई।

सर्वङ्कषा—श्यामेति। श्यामानि चारुणानि च तैः श्यामारुणैः=कृष्णलोहितैः। 'वर्णो वर्णेन' इति समासः। वारणदानतोयैः=गजमदोदकैः आलोडिताः=सम्मिलिता अत एव शितिकण्ठपिच्छक्षोदाः=मयूरवर्हचूर्णा इव द्योतन्त इति तथोक्ताः। क्विप्। उपमालङ्कारः। काञ्चनस्य भूः काञ्चनभूस्तस्याः परागाः=पांसवः। आनेमि=नेमिमभिव्याप्य। 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री' इत्यमरः। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इत्यभिविधावव्ययीभावः। मग्नैः रथौघैः चुक्षुदिरे। पिष्टा इत्यर्थः। परागाणां विशिष्टपेषणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तथा च महती गजरथसम्पत्तिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ २७ ॥

भावार्थ—हाथियोंके सांवले और ललाई लिए मद जलसे सुनहरी भूमिकी धूलि सन गई, जो मोरपंखोंके चूर्ण जैसी रंग-विरंगी हो गई। उसपर पहियों तक धँसे हुए रथ चलने लगे तो वह पुनः पिसकर चूर-चूर हो गई ॥ २७ ॥

न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नैवोद्धतिमाजगाम।
अचेष्टताष्टापदभूमिरेणुः पदाहतो यत्सदृशं गरिम्णः ॥ २८ ॥

अन्वय—अष्टापदभूमिरेणुः, पदाहतः, महाजनानां शिरांसि, न लङ्घयामास उद्धतिं नैव आजगाम, यत्, गरिम्णः सदृशम् अचेष्टत।

पदार्थ—अष्टापदभूमिरेणुः=सुवर्णमयी भूमिकी धूल। पदाहतः=(सैनिक गजरथादि द्वारा) पैरोंसे ठुकराई हुई (भी)। महाजनानां=जनसमुदायके अथवा पूज्यजनोंके। शिरांसि=शिरोंको। न लङ्घयामास=नहीं लांघ गई। उद्धतिं=उड़नेकी क्रियाको अथवा उद्धतताको। नैव आजगाम=नहीं प्राप्त हुई। यत्=क्योंकि। गरिम्णः=(अपनी) गुरुताके। सदृशम्=अनुकूल। अचेष्टत=आचरण करती थी।

सर्वङ्कषा—अष्टसु धातुषु पदं प्रतिष्ठा अस्येत्यष्टापदं=सुवर्णम्। 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः। तस्य भूमिस्तस्या रेणुः=काञ्चनभूरजः पदाहतः=रथाश्वादिचरणताडितोऽपि सन्नित्यर्थः। महाजनानां=बहुजनानां पूज्यानां च शिरांसि न लङ्घयामास=नाक्रामत्तस्म। किं बहुना, उद्धतिम्=उत्पवनदर्पं च नैवाजगाम। कुतः। यत्=यस्माद् गरिम्णः=गुरुत्वगुणस्य माहात्म्यस्य च। 'प्रियस्थिर–' इत्यादिना गुरोर्गरादेशः। सदृशम्=अनुरूप यथा तथाऽचेष्टत। अलङ्घनव्यवहारे गुरुत्वस्यौद्धत्यप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। अत्रानौद्धत्यादिप्रस्तुतसुवर्णपरागविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसुजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ २८॥

भावार्थ—सुवर्णमयी भूमिकी धूलि न तो उड़ी और न उन सैनिकोंके शिरोंपर पड़ी। क्योंकि उसने अपनी गुरुता (भारीपन अथवा श्रेष्ठता) के अनुरूप चेष्टा की।

टिप्पणी—सामान्यतः धूलमें चलनेपर स्वभावतः धूल पैरोंके ठोकर लगनेसे उड़कर सिरपर जा पड़ती है। इस पर माघका ही श्लोक द्रष्टव्य है—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः (शिशु० २।४६)

किन्तु सुवर्ण भारी होता है, उसकी धूल भी भारी होनेसे उड़ नहीं पाती अतः सैनिकोंके सिरोंपर नहीं पड़ती। धूलिके इस व्यवहारसे प्रतीत होता है जो गुरु (महान्) होते हैं वे दूसरोंसे तिरस्कृत होनेपर भी उनसे उद्धतताका व्यवहार नहीं करते और न उनके सिरचढ़े बनते हैं। अष्टापद सुवर्णका नाम है क्योंकि आठों धातुओंमें सुवर्ण पद=महत्त्व रखता है, इसलिये उसे अष्टापद कहते हैं॥२८॥

निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिन्मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादान्।
ध्रुवं गुरून्मार्गरुधः करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुं तुरगास्तदीषुः॥२९॥

अन्वयः—तुरगाः, यदुभिः कथञ्चित् निरुध्यमानाः मुहुः अग्रपादान् य उच्चिक्षिपुः, तत्, ध्रुवं गुरून् मार्गरुधः, करीन्द्रान् उल्लङ्घ्य गन्तुम् ईषुः ।

पदार्थ—तुरगाः=घोड़े । यदुभिः=यदुवंशी सैनिकों द्वारा । कथञ्चित् किसी प्रकार । निरुध्यमानाः=रोके जाते हुए भी । मुहुः=बार बार । अग्र पादान्=अगले पैरोंको । यत्=जो । उच्चिक्षिपुः=उछाल रहे हैं । तत्=व (उछालना) । ध्रुवं=निश्चय ही । गुरून्=विशालकाय । मार्गरुधः=रास्ता रोक वाले । करीन्द्रान्=गजराजोंको । उल्लङ्घ्य=लाँघकर । गन्तुम् ईषुः=जान चाहते हैं ।

सर्वङ्कषा – निरुध्यमाना इति ।। तुरगाः यदुभिः । आरूढैरिति भावः कथञ्चित्=अतिप्रयत्नेन निरुध्यमानाः=वल्गाकर्षणेन वार्यमाणा अपि यत्=यस्मा ग्राश्च ते पादाश्च तानग्रपादान् । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोरभेदभेदयोगात्' इति वामनः । सामानाधिकरण्येन समासः । मुहुरुच्चिक्षिपुः=उत्क्षिप्तवन्तः तत्= तस्मान्मार्गं रुन्धन्तीति मार्गरुधः=मन्दगमनेन मार्गरोधिनः । क्विप् । गुरून्=महतः पूज्यांश्च । अलङ्घ्यानपीति भावः । करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुमीषुः=इच्छन्ति स्म ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । गुरवोऽपि सन्मार्गरोधकाः परैरुल्लङ्घ्यन्त इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।।२९।।

भावार्थ—घोड़े, यादवोंके द्वारा किसी प्रकार रोके जाते हुए भी, बार बार अपने अगले पैरोंको जो ऊपरको उछाल रहे हैं, वह निश्चय ही उ विशालकाय हाथियोंको लाँघ जाना चाहते हैं जो आगेसे उनका रास्ता रोके हैं ।

टिप्पणी—यदि गुरु (बड़े पूज्य) लोग भी प्रगति के मार्गमें बाधक हों तो उल्लङ्घनीय होते हैं, यह ध्वनि निकलती है ।।२९।।

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः ।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः ।।३०।।

अन्वयः—आयतवल्गम्, यत्ननिरुद्धवाहैः तुरङ्गिभिः, अग्रे अवेक्षितान्, रेणुभिः प्रक्रीडितान् पृथुकान्, जनन्यः, तूर्णम् एत्य, पथिभ्यः, निन्युः ।

पदार्थ—आयतवल्गम्=खींची गई लगामों द्वारा । यत्ननिरुद्धवाहैः= प्रयत्नपूर्वक रोके गये हैं घोड़े जिनसे, ऐसे । तुरङ्गिभिः=घुड़सवारोंसे । अग्रे अवेक्षितान्=(अपने) आगे देखे गये । रेणुभिः=ध[illegible] । प्रक्रीडितान्=

ाते हुए। पृथुकान्=शिशुओंको। जनन्यः=उनकी माताएँ। तूर्णम् एत्य=
घ्र आकर। पथिभ्यः=मार्गों से। निन्युः=ले जाती थीं।

सर्वंकषा—अवेक्षितानिति॥ आयता=आकृष्टा वल्गा=मुखरज्जुर्यस्मि-
र्मणि तद्यथा तथा यत्नेन्=दुर्वारवेगत्वादतिप्रयत्नेन निरुद्धा वाहाः=वाजिनो
तैः। 'वाजिवाहार्वगन्धर्व-' इत्यमरः। तुरङ्गिभिः=अश्वसादिभिरग्रे पुरोदेशेऽ-
क्षितान्=अवलोकितान् रेणुभिः प्रक्रीडन्तीति प्रक्रीडितान्=पांशुक्रीडाकरान्।
र्तरि क्तः। पृथुकान्=शिशून्। 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। जनन्यस्तूर्ण-
त्य पथिभ्यो निन्युः=अपसारयाञ्चक्रुरिति स्वभावोक्तिः॥३०॥

भावार्थ—लगाम खींचकर प्रयत्नपूर्वक घोड़ोंको रोकते हुए सवारोंसे
अपने आगे देखे गये, धूलिमें खेलते हुए बालकोंको मार्गसे उनकी माताएँ
शीघ्र आकर ले जाती थी।

टिप्पणी—'आयतवल्गम्' यह माघका प्रयोग तथा आयता आकृष्टा यह
मल्लिनाथका अर्थ हमें उचित नहीं प्रतीत होता, आङ्पूर्वक यमधातुका विस्तार
अर्थ होता है, इसलिये आयतका अर्थ है दीर्घ, आयतवल्गम्का अर्थ होना
चाहिये रास लम्बी करके, किन्तु प्रसङ्गके अनुसार अर्थ नहीं बैठता इसीलिये
मल्लिनाथ ने आयता=आकृष्टा कहा है। यह स्वभावोक्ति अलंकार है घोड़ोंके
सामने खेलते हुए बच्चे आ पड़ते हैं तो उनकी माताएँ दब जानेकी डरसे
झटसे उन्हें हटा लेती हैं॥३०॥

दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमारादनघं जनौघाः।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति॥३१॥

अन्वयः—अनघम्, मुरारिं, दिदृक्षमाणाः जनौघाः, प्रतिरथ्यम् आरात् ईयुः,
अनेकशः संस्तुतम् अपि अनल्पा प्रीतिः नवं-नवं करोति।

पदार्थ—अनघम्=निष्पाप। मुरारिं=श्रीकृष्णको। दिदृक्षमाणाः=
देखनेकी इच्छावाले। जनौघाः=लोगोंके समूह। प्रतिरथ्यम्=प्रत्येक गलीमें।
आरात्=समीप। ईयुः=आते थे। अहो=आश्चर्य है कि। अनेकशः=
बार-बार। संस्तुतम् अपि=परिचितको भी। अनल्पा=अत्यधिक। प्रीतिः=
प्रेम। नवं-नवं=नया नया। करोति=कर देता है।

सर्वङ्कषा—दिदृक्षमाणा इति॥ अनघम्=अकलङ्कं मुरारिं दिदृक्षमाणाः
=द्रष्टुमिच्छन्तः। पि... न्नन्ताल्लटः शानजादेशः। 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मने-
...। ...मार्गे ... प्रतिरथ्यम् यथार्थेऽव्ययीभावः। आरात्=

समीपम् । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । ईयुः =जग्मुः । इणो लिट् 'दीर्घ इणः किति' इत्यभ्यासदीर्घः । ननु नित्यपरिचिते का दिदृक्षेत्यत्राह—अनेकश इति । अनेकशः=बहुवारमित्यर्थः । 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' इति 'शस्-प्रत्ययः । संस्तुतं=परिचितमपि वस्तु । जनेनेति शेषः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । अनल्पा=अधिका प्रीतिः=प्रेम कर्त्री नवं नवम् । आभीक्ष्ण्येन नवं करोति । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्भावः । अहोशब्दः पुराणस्यापि नूतनत्व-मित्याश्चर्ये । यथा परमप्रेमास्पदं वस्तु नित्यदृष्टमप्यदृष्टचरमिव प्रतिक्षणं दिदृक्षते भगवानपि तथैवेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्त-रन्यासः ॥ ३१॥

भावार्थ—निष्कलंक चरित्रवाले श्रीकृष्णको देखनेकी इच्छासे प्रत्येक गलीमें जनसमूह उमड़ पड़ता था । (यद्यपि श्रीकृष्ण उनके लिए कोई नये या अपरिचित नहीं थे किन्तु) प्रेमकी अधिकता अत्यन्त परिचितको भी नया-नया सा कर देती है ॥३१॥

टिप्पणी—टीकाकार वल्लभने 'प्रतिरथ्यमायुः' पाठ मानकर 'आयुः इत्याङ् पूर्वाल्लङ्' लिखा है । तथा 'नवं नवं'में भी वे मकारका प्रश्लेष मानते हैं अन्यथा कर्मधारयत्वात् सुप्का लोप होकर नवनवं रूप बनेगा,ऐसा उनका कथन है ॥३१॥

उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरसौ निरुच्छ्वासमनीकिनीभिः ।
रथस्य तस्यां पुरि दत्तचक्षुर्विद्वान् विदामास शनैर्न यातम् ॥३२॥

अन्वयः—विद्वान्, तस्यां पुरि दत्तचक्षुः, असौ, निरन्तराभिः अनीकिनीभिः निरुच्छ्वासं वर्त्म उपेयुषः रथस्य, शनैः यातम्, न विदामास ।

पदार्थ—विद्वान्=सर्वज्ञ । तस्यां पुरि=उस नगरी (द्वारिका) में । दत्तचक्षुः=गड़ाई है दृष्टि जिसने, ऐसा । असौ=यह (श्रीकृष्ण) । निरन्तराभिः= अवकाशरहित (परस्पर सटी हुई) । अनीकिनीभिः=सेनाओंसे । निरुच्छ्वासं= ठसाठस भरे हुए । वर्त्म=मार्गको । उपेयुषः=प्राप्त हुए । रथस्य=रथके । शनैः यातम्=धीरे-धीरे चलना (भी) । न विदामास=नहीं जान पाये ।

सर्वङ्कषा—उपेयुष इति ॥ विद्वान्=अभिज्ञः अत एव तस्यां पुरि=नगर्यां दत्तचक्षुः=निसृष्टदृष्टिरसौ=हरिर्निरन्तराभिः=नीरन्ध्राभिरनीकिनीभिः=सेनाभि-निरुच्छ्वासम्=अतिसंकटं वर्त्म उपेयुषः=प्राप्तस्य रथस्य शनैर्यातं=सम्बन्धनिब-न्धनं मन्दगमनं न विदामास=न विवेद । 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' विधात[illegible] :। व्यासङ्गादसम्वेदनं न तु तत्त्वाज्ञानादिति भावः । व्यासङ्गस्य [illegible]र्थत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिंगम् ॥३२॥

भावार्थ—सर्वज्ञ और उस द्वारकापुरीको देखनेमें दृष्टि लगाये हुए वह श्रीकृष्ण, अत्यन्त सघन (परस्पर सटी हुई) सेनासे भरे हुए मार्गमें धीरे-धीरे रथका चलना भी नहीं जान सके।

टिप्पणी—निरन्तराभिःका अर्थ है जिसके बीचमें कुछ भी अन्तर-अवकाश नहीं है अर्थात् परस्पर सटी हुई। इसी प्रकार निरुच्छ्वासंका अर्थ है जिसमें साँस नहीं लिया जा सकता अर्थात् खचाखच भरे हुए।

कहीं बाहरसे नगरमें प्रवेश करते हुए नगरमें दृष्टि गड़ाना तो समझमें आता है, किन्तु नगरसे बाहर निकलते समय, वह भी तब जबकि तोरण (एकदम नगरका बाहरी फाटक) में टूट जानेकी डरसे सैनिकोंके झंडे झुक चुके हैं अर्थात् वे नगर से बाहर आ चुके हैं, द्वारकामें दृष्टि लगाना कैसे संभव है, यह माघ ही जानें। काव्यनिर्माण द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन अलग है और औचित्य-का निर्वाह कर काव्य-रचना अलग। इसी प्रकार इस पद्यमें श्रीकृष्णका विशेषण है विद्वान्, वेत्तीति विद्वान् अर्थात् सब कुछ जाननेवाला, सेनाके पीछे-पीछे धीरे-धीरे रथ चल रहा है पर वे उसका चलना नहीं जान पाते। इसे न तो विरोध कह सकते हैं न विरोधाभास। क्योंकि दोनोंका कोई परिहार भी होता है जो शनैः कह देनेसे यहाँ पहिले ही स्पष्ट हो गया है। हमारी समझमें तो सिवा विद्वान् और विदाभासके अनुप्रासके यहाँ और कुछ नहीं है ॥३२॥

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास ॥३३॥

अन्वयः—मध्येसमुद्रम्, कांचनवप्रभासा, ककुभः पिशङ्गीः कुर्वती, या तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला इव, जलं भित्त्वा उल्ललास।

पदार्थ—मध्ये समुद्रम्=समुद्रके बीचोंबीच। काञ्चनवप्रभासा=(अपने) सुवर्णमय प्राकार (परकोटा)की कान्तिसे। ककुभः=दिशाओंको। पिशङ्गीः कुर्वती=पीली करती हुई। या=जो (द्वारका)। तुरङ्गकान्तामुख-हव्यवाहज्वाला इव=वड़वाग्निकी लपटोंकी तरह। जलं भित्त्वा=जलको फाड़-कर। उल्ललास=चमक रही है।

सर्वङ्कषा—अथैकत्रिंशच्छ्लोकैर्द्वारकां वर्णयति—मध्य इति॥ समुद्रस्य मध्ये मध्येसमुद्रम्। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इति विकल्पादव्ययीभावः। मध्य-शब्दस्य तत्सन्नियोगादेकारान्तत्वम्। काञ्चनवप्रभासा=हेमप्राकारप्रभया ककुभो=दिशः पिशङ्गीः=पिङ्गलवर्णाः। गौरादित्वान्ङीष्। कुर्वती या=पूः जलं=समतो-भित्त्वा। उत्थितेति शेषः। तुरङ्गकान्तायाः=वडवाया मुखे ह[illegible] [illegible]त्=

हव्यवाहः=अग्निः। कर्मण्यण्प्रत्ययः। तस्य वाडवाग्नेर्ज्वालेव-उल्ललास=उद्भासे। अत्र समुद्रान्तर्लीनायां वडवानलज्वालायां कदाचित्सम्भाव्यमानस्य मध्योल्लसनस्य पुरि दर्शनाभेदाध्यवसायेनास्या ज्वालात्वमुत्प्रेक्ष्यते। इवशब्दोऽयमुत्प्रेक्षाया एव व्यञ्जको नोपमायाः, ईदृग्ज्वालाया अप्रसिद्धत्वेनोपमानत्वायोगात्। 'मन्ये शंके ध्रुवं नूनं प्रायः इत्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥' इत्याचार्यदण्डी ॥३३॥

भावार्थ—समुद्रके बीचोंबीच अपने सोनेके बने परकोटेसे दिशाओं को सुनहरी बनाती हुई जो द्वारका बड़वाग्निकी लपटोंकी भांति जलको भेदकर उसके ऊपर चमक रही है ॥३३॥

कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव ॥३४॥

अन्वयः—भूमिभृतां सहस्रैः कृतास्पदा, उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः, पृथ्वी, या अनिर्विदा विधात्रा, पृथिव्याः प्रतियातना इव, विदधे।

पदार्थ—भूमिभृतां सहस्रैः=हजारों पर्वतोंसे। कृतास्पदा=जिसमें स्थान बनाया गया है। उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः=समुद्रके जलसे जिसका स्वरूप घिरा हुआ है, ऐसी। पृथ्वी=विस्तृत। या=जो (द्वारका)। अनिर्विदा=बिना किसी खिन्नता (थकावट)के। विधात्रा=विधातासे। पृथिव्याः=पृथ्वीकी। प्रतियातना इव=प्रतिमूर्ति जैसी। विदधे=बनायी गई है।

सर्वङ्कषा—कृतास्पदेति ॥ भूमिभृतां=राज्ञां, गिरीणां च सहस्रैः कृतास्पदा= कृताधिष्ठाना। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। उदकमस्यास्तीत्युदन्वान्= उदधिः। 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः' इत्यमरः। 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः। तस्याम्भोभिः परिवीता=परिवेष्टिता मूर्तिः=स्वरूपं यस्याः सा पृथ्वी=पृथुः। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीप्। एवम्भूता या=पूः न निर्विद्यते न खिद्यते इत्यनिर्वित्। विदेर्ज्ञानार्थत्वान्निःपूर्वात् 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप्। तेनानिर्विदा=अखिन्नेन। अन्यथा शिल्पसौष्ठवासिद्धेरिति भावः। विधात्रा। प्रथत इति पृथिवी=भूः। प्रथेरौणादिकः षिवन्। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप्। तस्याः प्रतियातना=प्रतिकृतिरिव विदधे=विहिता। 'प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिः' इत्यमरः। भूप्रतिनिधित्वोत्प्रेक्षया पुरो वैचित्र्यविस्तारादिवस्तु व्यज्यते।

भावार्थ— जिसमें हजारों पहाड़ स्थित हैं और समुद्रके जलसे जो चारों ओर घिरी है, ऐसी विस्तीर्ण जिस पुरीको बिना किसी थकावटके विधाताने पृथ्वीके प्रतिबिम्बकी भांति बनाया है।

टिप्पणी--भूमिभृत् शब्द राजा और पर्वत दोनोंका वाचक है किन्तु यहाँ प्रतिकृति (छायाचित्र)का प्रसङ्ग है अतः पर्वत अर्थ ही उपयुक्त है। मल्लिनाथका राज्ञां अर्थकी प्रधानता उचित नहीं। व्यक्ति यदि खिन्नता या थकावटकी स्थितिमें कार्य को करता है तो वह उतना सुंदर नहीं बन पाता अतः विधाताने स्वस्थस्थितिमें पृथ्वीकी इस प्रतिकृति (फोटो)को बनाया है, यह भाव है ॥ ३४ ॥

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा।
अदृश्यतादर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥ ३५ ॥

अन्वयः--त्वष्टुः, सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा, या, आदर्शतलामलेषु, जलधेः जलेषु, स्वः, छाया इव अदृश्यत।

पदार्थ--त्वष्टुः=विश्वकर्माके। सदाभ्यासगृहीत=निरन्तर किये गये अभ्यास द्वारा प्राप्त जो, शिल्पविज्ञानसम्पत्=शिल्पविज्ञान रूप सम्पत्ति (उसके)। प्रसरस्य=विस्तारकी। सीमा=अवधि। या=जो (द्वारका)। आदर्शतलामलेषु=दर्पणकी तरह स्वच्छ। जलधेः=समुद्रके। जलेषु=जलोंमें। स्वः छाया इव=स्वर्गकी छायाकी तरह। अदृश्यत=दीखती थी।

सर्वङ्कषा–त्वष्टुरिति ॥ त्वष्टुः=विश्वकर्मणः सदाभ्यासेन गृहीतः=लब्धो यः शिल्पविज्ञानसम्पदः प्रसरः=प्रकर्षस्तस्य सीमा=अवधिः। अप्रतिमेति यावत्। या पुरादर्शतलामलेषु=दर्पणपृष्ठस्वच्छेषु। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। जलधेर्जलेषु स्वः=स्वर्गस्य। 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक–' इत्यमरः। छाया=प्रतिबिम्बमिवादृश्यतेत्युत्प्रेक्षा। 'छाया त्वनातपे कान्तौ प्रतिबिम्बार्कजाययोः' इति वैजयन्ती ॥ ३५ ॥

भावार्थ—विश्वकर्माने निरन्तर अभ्यास करके जिस शिल्प-विज्ञानको ग्रहण किया था उसके उत्कर्षकी जो सीमा है, ऐसी द्वारका दर्पणके समान स्वच्छ समुद्रके जलोंमें स्वर्गकी छाया सी दीखती थी।

टिप्पणी—विश्वकर्मा देवताओंके शिल्पी हैं। उन्होंने निरन्तर अभ्यास करके जिस शिल्पविज्ञानको अर्जित किया उसकी सारी शक्ति जिसमें लगा दी है ऐसी द्वारका, निर्मल समुद्र–जलमें स्वर्गके प्रतिबिम्ब सी दीखती है। पूर्व श्लोकमें पृथ्वीके प्रतिबिम्ब सी दीखती थी इसमें स्वर्गके ॥ ३५ ॥

रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय यस्याः पितेव प्रतिपादितायाः।
प्रेम्णोपकण्ठं मुहुरङ्कभाजो रत्नावलीरम्बुधिराबबन्ध ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अम्बुधिः पिता इव वराय रथाङ्गभर्त्रे अभिनवं प्रतिपादितायाः अङ्कभाजः यस्याः उपकण्ठं मुहुः प्रेम्णा रत्नावलीः आबबन्ध।

पदार्थ--अम्बुधिः=समुद्रने । पिता इव=पिताकी भाँति । वराय=श्रेष्ठ (जामाता जैसे)। रथाङ्गभर्त्रे=चक्र धारण करनेवाले (श्रीकृष्ण) के लिये । अभिनवं=तत्काल । प्रतिपादितायाः=दी हुई । अङ्कभाजः=गोदमें या समीपमें स्थित । यस्याः=जिस नगरीके । उपकण्ठं=समीपमें (कण्ठमें) । मुहुः=वार वार । प्रेम्णा=प्रेमसे । रत्नावलीः=रत्नोंके हारोंको । आबबन्ध=बांध दिया ।

सर्वङ्कषा--रथाङ्गेति ।। अम्बुधिः पितेव वराय=श्रेष्ठाय, जामात्रे च । 'वरो जामातरि श्रेष्ठे' इति विश्वः । रथाङ्गभर्त्रे=चक्रधराय हरयेऽभिनवं यथा तथा प्रतिपादितायाः । अङ्कं=समीपं, उत्सङ्गश्च तद्भाजः । 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । यस्याः=पुर उपकण्ठम्=अन्तिके । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्यत्र कण्ठे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मुहुः प्रेम्णा रत्नावलीराबबन्ध आसमन्ताद् बबन्ध । श्लेषानुप्राणितेयमुपमेति सङ्करः ।। ३६ ।।

भावार्थ – जैसे कोई पिता वरको तत्काल दी हुई कन्याको गोदमें बैठाकर उसे रत्नहार पहिनाता है, ऐसे ही समुद्र द्वारा चक्रधारी श्रीकृष्णको सौंपी हुई द्वारकाके समीप रत्नोंकी पंक्तियाँ बिखेर दी गईं ।

टिप्पणी--वराय, अङ्कभाजः, उपकण्ठं और रत्नावली ये शब्द श्लिष्ट हैं । वरायका अर्थ है श्रेष्ठ श्रीकृष्णके लिये तथा वर (जामाता) के लिये । अङ्कभाजःका अर्थ है समीपवर्त्ती तथा गोदमें ली हुई । उपकण्ठंका अर्थ है समीपमें तथा गलेमें । रत्नावलीका अर्थ है रत्नोंकी पंक्ति तथा रत्नहार ।।३६।।

यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वहमन्वकारि ।।३७।।

अन्वयः--चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन, यस्याः वप्रेण, पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रः, अन्वहम्, अन्वकारि ।

पदार्थ--चलद्वारिधिवारि=हिलते हुए समुद्र-जलकी, वीचिच्छटोच्छलत्=तरङ्ग-समूहोंसे उछलते हुए, शङ्खकुलाकुलेन=शङ्ख-समूहसे व्याप्त । यस्याः=जिस (द्वारका) के । वप्रेण=प्राकार (परकोटा) से । पर्यन्तचरोडुचक्रः=चारों ओर चलते हुए नक्षत्र-समूहोंवाला । सुमेरुवप्रः=सुमेरु पर्वतका शिखर । अन्वहम्=प्रतिदिन । अन्वकारि=अनुकरण किया जाता था ।

सर्वङ्कषा—यस्या इति ।। चलन्तीनां वारिधिवारिवीचीनां छटासु=परम्परासु, उच्छलद्भिः=उत्पतद्भिः शङ्खानां कुलैराकुलेन=सङ्कीर्णेन यस्याः=पुरो वप्रेण=प्राकारेण पर्यन्ते चरतीति तत्तादृशमुडुचक्रं=नक्षत्रमण्डलं यस्य सः सुमेरोर्वप्रः=सानुः । 'सानुप्राकारयोर्वप्रम्' इत्युभयत्रापि सज्जनः । अहन्यहनीत्यन्वहम् । 'अव्ययं विभक्ति–' इत्यादिना यथार्थेऽव्ययीभावः । 'अनश्च' 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्तोऽच् । अन्वकारि=अनुकृतः । तत्साम्यं प्रापित इत्यर्थः । मेरूपमानाद्वप्रस्य तत्तुल्यमौन्नत्यं व्यज्यते ।। ३७ ।।

भावार्थ—हिलते हुए समुद्र-जलकी लहरोंके समूह द्वारा उछाले गये शङ्खोंके समूहसे व्याप्त जिस द्वारकाका परकोटा, चारों ओर नक्षत्रोंसे व्याप्त सुमेरु पर्वतके शिखरोंका प्रतिदिन अनुकरण करता था ।। ३७ ।।

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ।। ३८ ।।

अन्वयः—यत्र वणिक्पथे, पूगकृतानि, अलोलद्युतिभाञ्जि, रत्नानि, लोलैः, भ्रमागतैः अम्बुभिः, मुष्णन्, अम्बुराशिः, रत्नाकरताम्, अवाप ।

पदार्थ—यत्र=जिस (द्वारका) में । वणिक्पथे=[illegible] । पूगकृतानि=ढेर लगाये हुए । अलोलद्युतिभाञ्जि=स्थिर कान्तिवा[illegible] । रत्नानि=रत्नोंको । लोलैः=बहते हुए । भ्रमागतैः=नालियोंसे आते [illegible] । अम्बुभिः=जलोंसे । मुष्णन्=चुराता हुआ । अम्बुराशिः=समुद्र । रत्नाकरतां=रत्नाकरत्वको । अवाप=प्राप्त हुआ ।

सर्वङ्कषा—वणिक्पथ इति ।। यत्र=यस्यां पुरि, वणिजां पथि वणिक्पथे=आपणे अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि कृतानि पूगकृतानि=पुञ्जीकृतानि । 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इति समासः । श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनमिति च्व्यर्थता । अलोलद्युतिभाञ्जि=स्थिरप्रभावन्ति रत्नानि लोलैः अत एव भ्रमागतैः=जलनिर्गममार्गादागतैः । 'भ्रमाश्च जलनिर्गमाः' इत्यमरः । अम्बुभिर्मुष्णन्=अपहरन्, अम्बुराशिः=अर्णवः । जलमात्रसारोऽपीति भावः । रत्नाकरतामवाप=प्राप । न तु प्रागिति भावः । अम्बुराशेः प्राग्रत्नसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च पुर्याः समुद्रातिशायिनि रत्नसमृद्धिर्वस्तु व्यज्यते ।। ३८ ।।

भावार्थ—जिस द्वारकाकी मण्डियोंमें ढेर लगाये हुए, स्थिर कांतिवाले रत्नों को, बहकर नालियोंसे आते हुए जलों द्वारा चुराकर समुद्र रत्नाकर कहलाने लगा ।

टिप्पणी--बाजारोंमें रत्नोंके ढेर लगे थे जो बिखरकर नालियोंमें जा गिरते और उनमें बहते हुए जल द्वारा समुद्र तक पहुँच जाते थे। इन्हीं को जमा करते-करते समुद्र रत्नाकर कहलाने लगा, यह तात्पर्य है ॥ ३८ ॥

अम्भश्च्युतः कोमलरत्नराशीनपांनिधिः फेनपिनद्धभासः।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्पं विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः ॥३९॥

अन्वयः – यत्र अपांनिधिः, अम्भश्च्युतः फेनपिनद्धभासः कोमलरत्नराशीन्, आतपे दातुम् इव, तरंगहस्तैः, अधितल्पं, विस्तारयामास।

पदार्थ—यत्र=जहाँ। अपांनिधिः=समुद्र। अम्भश्च्युतः=जल टपकाते हुए। फेनपिनद्धभासः=फेनसे ढकी कान्तिवाले। कोमलरत्नराशीन्=उत्कृष्ट रत्नोंके ढेरोंको। आतपे दातुम् इव=धूपमें सुखानेको जैसे। अधितल्पम्=बाजारमें। तरंगहस्तैः=लहररूप हाथोंसे। विस्तारयामास=फैला देता था।

सर्वङ्कषा—अम्भ इति ॥ यत्र=पुरि अपांनिधिः=समुद्रः। अम्भश्च्योतन्ति क्षरन्तीत्यम्भश्च्युतः=जलस्राविणः अत एव फेनैः पिनद्धभासः=पिहितकान्तीन्। अपिपूर्वान्नह्यतेः कर्मणि क्तः। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः। को[illegible]=[illegible]कृष्टान् रत्नराशोनातपे दातुं=शोषणार्थं निधातुमिवेति फलोत्प्रेक्षा। [illegible]=अट्टेषु अधितल्पम्। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। विभक्त्यर्थे[illegible]रङ्गैरेव हस्तैर्विस्तारयामास=प्रसारितवान्। अत्रातपदानस्य तरंगहस्तसाध्यत्वेनोत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः ॥३९॥

भावार्थ--जिस नगरीमें समुद्र, जल टपकाते हुए तथा फेनसे ढकी कान्तिवाले उत्कृष्ट रत्नोंके ढेरोंको, धूपमें सुखानेके लिये जैसे, अपनी तरंगरूप हाथोंसे बाजारोंमें फैला देता था ॥३९॥

यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य।
महोर्मिभिर्व्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडादिवाभ्याशगतैर्विलिल्ये ॥४०॥

अन्वयः--सागरस्य महोर्मिभिः, यच्छालं विजेतुं, दूरात् उदस्थीयत। अभ्याशगतैः, व्याहतवाञ्छितार्थैः, व्रीडात् इव, विलिल्ये।

पदार्थ--सागरस्य=समुद्रको। महोर्मिभिः=बड़ी-बड़ी लहरोंसे। यच्छालं=जिस द्वारकाके शाल (परकोटा) को। विजेतुं=(ऊंचाईमें) जीतनेके लिये। दूरात्=दूरसे। उदस्थीयत=उठकर आया जाता है। अभ्याशगतैः=समीप आनेपर। व्याहतवाञ्छितार्थैः=नष्ट हुई अभिलाषावाले होकर। व्रीडात् इव=लज्जासे जैसे। विलिल्ये=लीन हुआ जाता है।

सर्वङ्कषा— यच्छालमिति ॥ सागरस्य महोर्मिभिः कर्तृभिर्यच्छालं= यस्याः प्राकारम्। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः । उत्तुङ्गतया=औन्नत्यगुणेन । जेतुमिवेत्यर्थः । फलोत्प्रेक्षेयं व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या । दूरादुदस्थीयत=उत्थितम् । भावे लङ् । अभ्याशगतैः=समीपगतैः । 'समीपे निकटाभ्याशसन्निकृष्टसनीडवत्' इत्यमरः । व्याहतो वाञ्छितार्थः=शालविजयरूपो येषां तैः । विजयाक्षमैरित्यर्थः । अत एव व्रीडादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । ऊर्मिभिर्विलिल्ये=विलीनम् । लीयतेर्भावे लिट् । अत्र शक्तस्याप्यविजिगीषोर्व्रीडानुदयात् सापेक्षत्वेनोत्प्रेक्षयोः संकरः ॥४०॥

भावार्थ—समुद्रकी बडी-बड़ी लहरें जिस द्वारकाके परकोटेकी ऊँचाई-को लाँघनेके लिये दूरसे उठती हैं और पास आनेपर (न लाँघ सकनेके कारण) अभिलाषा नष्ट होनेसे लज्जासे जैसे लीन हो जाती हैं ।

टिप्पणी—जितनी अधिक ऊंचाईको लाँघना होता है उतने दूरसे दौड़कर आना पड़ता है । द्वारकाका परकोटा अत्यन्त ऊंचा है अतः उसे लाँघने-के लिए समुद्रकी लहरें दूरसे उछलकर आती हैं किन्तु वहाँ तक पहुँच नहीं पातीं अतः समीप आकर विलीन हो जाती हैं, मानो शर्मके मारे छिप जाती हैं ॥४०॥

कुतूहलेनेव जवादुपेत्य प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः ।
रसन्नरोदीद् भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या वहिरम्बुवाहः ॥४१॥

अन्वयः—अम्बुवाहः, कुतूहलेन इव, जवात्, उपेत्य, यस्याः प्राकारभित्त्या, सहसा निषिद्धः, वहिः रसन्, अम्बुवर्षव्याजेन भृशम् अरोदीत् ।

पदार्थ—अम्बुवाहः=मेघ । कुतूहलेनइव=कौतुकसे जैसे । जवात्= वेगसे । उपेत्य=आकर । यस्याः=जिस पुरोकी । प्राकारभित्त्या=परकोटे-की दीवालसे । सहसा निषिद्धः=एकाएक रोका गया । वहिः=(दीवालके) वाहर ही । रसन्=गरजता हुआ । अम्बुवर्षव्याजेन=जलवरसानेके वहाने । भृशम् अरोदीत्=अत्यन्त रोया ।

सर्वङ्कषा—कुतूहलेनेति ॥ अम्बु वहतीत्यम्बुवाहो=मेघः । कर्मण्यण् । कुतूहलेन=अन्तःप्रवेश-कौतुकेनेवेति हेतूत्प्रेक्षा । जवादुपेत्य यस्याः प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धो=निवारितः अतएव वहिरेव रसन्=गर्जन् । दुःखात् क्रन्दंश्चेति श्लेषः । अम्बुवर्षव्याजेन भृशमरोदीत्=अश्रूणि मुक्तवान् । 'रुदिर् अश्रुविमोचने' लङ्, 'रुदश्च पंचभ्यः' इतीडागमः । अत्राम्बुवर्षव्याजेनोत्पादकस्योक्तश्लेषो-त्प्रेक्षासापेक्षत्वात्संकरः ॥४१॥

भावार्थ—मेघ बड़े कुतूहलसे जैसे वेगसे आकर जिस द्वारकाके पर-कोटेकी दीवालसे एकाएक रोक दिया गया तो (दीवालके) बाहर ही गरजता हुआ जलबरसानेके बहाने बहुत रोया।

टिप्पणी—जैसे कोई व्यक्ति कुतूहलसे कहीं प्रवेश करना चाहता हो और उसे सहसा बाहर ही रोक दिया जाय तो वह वहीं पर रोने लगता है उसी प्रकार मेघ भी जलके बहाने जैसे आँसू बरसाने लगा और गरजनेके बहाने जोरसे रोने लगा ॥४१॥

यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः ॥४२॥

अन्वयः—यदङ्गनारूपसरूपतायाः भेदकं, कंचिद् गुणम्, इच्छतीभिः अप्सरोभिः, आराधितः, मनुः, स्वाः प्रजाः, सनिमेषचिह्नाः चक्रे, अद्धा।

पदार्थ—यदङ्गनारूपसरूपतायाः=जहाँकी स्त्रियोंके रूपकी समानताके। भेदकं=पृथक् करनेवाले। कंचिद्=किसी। गुणं=गुणको। इच्छतीभिः=चाहती हुई। अप्सरोभिः=अप्सराओंसे। आराधितः=आराधना (प्रार्थना) किये गये। मनु=प्रजापतिने। स्वाः प्रजाः=अपनी प्रजाओंको। सनिमेष-चिह्नाः=पलक गिरानेके चिह्नवाली। चक्रे=कर दिया। अद्धा=वास्तव में।

सर्वंकषा—यदङ्गनेति ॥ यस्यां=पुर्यामङ्गनानां रूपं=सौन्दर्यमाकारो वा। 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये आकारश्लेषयोरपि' इति विश्वः। तस्य सरूपतायाः=सारूप्याद्भेदकं=व्यावर्तकं कञ्चिद्गुणं=धर्ममिच्छतीभिः=अपेक्षमाणाभिः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः। अप्सरोभिराराधितः=प्रार्थितो मनुः=मानुषसृष्टिकर्ता स्वाः=स्वकीयाः प्रजाः निमेषः=पक्ष्मपात एव चिह्नं=व्यावर्तकं तेन सह वर्तन्त इति सनिमेषचिह्नाः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। चक्रे। अद्धा=तत्त्वमित्युत्प्रेक्षा। 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयोः' इत्यमरः। अत्र स्वाभाविकनिमेषस्याप्सरसः प्रार्थनाहेतुकत्वोत्प्रेक्षया द्वारकाङ्गनानां निमेषमात्रभिन्नममानुषं सौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥४२॥

भावार्थ—जिस द्वारकाकी स्त्रियोंके सौन्दर्यसे अपने सौन्दर्यमें भेद-कारक किसी गुणको चाहती हुई अप्सराओंके प्रार्थना करनेपर प्रजापति मनुने अपनी प्रजाओंको पलक गिरानेके चिह्नसे युक्त कर दिया।

टिप्पणी—स्वाः प्रजाः का अर्थ है द्वारकाकी स्त्रियोंको। क्योंकि मनुकी सन्तान मानव कहलाती हैं, अप्सराएँ तो देवता हैं मानव नहीं और द्वारकाकी

अङ्गनायें मानव हैं अतः उन्हें निमेषवाली कर दिया। तात्पर्य यह है कि अप्सराओं और द्वारकाकी स्त्रियोंकी सुन्दरतामें केवल यही अन्तर था कि इनके पलक गिरते थे अप्सराओंके नहीं। समग्र सौन्दर्य समान रहते हुए यह सनिमेष होना एक प्रकार से इनमें विशिष्टता थी ॥४२॥

स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिन्हुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः।
आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन् ॥४३॥

अन्वयः—यत्र, क्षणदासु, नार्यः, स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः विनिह्नुताः, स्फाटिकसौधपङ्क्तीः आरुह्य, नभोगताः देव्यः इव, व्यराजन्।

पदार्थ—यत्र=जहाँ। क्षणदासु=रातोंमें। नार्यः=स्त्रियाँ। स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः=चमकते हुए चन्द्रमाकी किरणोंसे। विनिन्हुताः=ढकी हुई सो। स्फाटिकसौधपङ्क्तीः=स्फटिकके महलोंकी पांतोंमें। आरुह्य=चढ़नेपर। नभोगताः=आकाशचारी। देव्यः इव=देवाङ्गनाएँ जैसी। व्यराजन्=शोभित होती थीं।

सर्वङ्कषा—स्फुरदिति॥ यस्यां=पुरि क्षणदासु=रात्रिषु नार्यः स्फुरद्भिस्तुषारांशोः=चन्द्रस्य मरीचिजालैः=चन्द्रिकाभिः विनिन्हुता=अपन्हुताः। तदेकरूपतापत्तेरगृह्यमाणा इत्यर्थः। अत एव सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्। स्फाटिकानां=स्फटिकविकाराणां सौधानां पङ्क्तीरारुह्य नभोगता देव्यः=देवाङ्गना इव। देवशब्दस्य पचादिषु देवडिति पाठात् 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप्। व्यराजन्। सौधानामग्रहणादभ्रङ्कषत्वात् तत्र लक्ष्यमाणाः स्त्रियः खेचर्य इव रेजुरित्यर्थः। अत्र नभोगतत्वोत्प्रेक्षायाः पूर्वोक्तसामान्यसापेक्षत्वात्सङ्करः॥ ४३॥

भावार्थ—जिस द्वारकामें स्त्रियाँ, रात्रिमें चमकती हुई चांदनीसे जिनकी कांति छिप गई है ऐसे स्फटिकमणिनिर्मित महलोंपर चढ़ी हुई, आकाशमें खड़ी देवियाँ जैसी लगती थीं।

टिप्पणी—कविका भाव जितना सुंदर है शब्दावली उतनी सुंदर नहीं। स्फटिकके महलोंपर चांदनी छिटकनेसे, समान वर्ण होनेके कारण महल प्रतीत ही नहीं हो रहे थे अतः उनकी अटारियोंपर चढ़ी स्त्रियाँ आकाशमें खड़ीसी दीख रही थीं, यह भाव है॥ ४३॥

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः॥४४॥

अन्वयः--यत्र,प्रतिक्षपम्, कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु हर्म्यतलेषु, अधःपातिपयोमुचः, अपि उच्चैः प्रणाल्यः, पयसां समूहम्, ऊहुः ।

पदार्थ--यत्र=जहाँ । प्रतिक्षपम्=प्रतिरात्रिमें । कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु=मनोहर चन्द्रकान्त मणियोंसे बने फर्शोंवाले । हर्म्यतलेषु=महलोंकी छतोंपर । अधःपातिपयोमुचः अपि=(अत्यन्त ऊँचे होनेके कारण) नीचे ही छोड़ दिया है बादलांको जिन्होंने ऐसे भी । उच्चैः प्रणाल्यः=ऊँचे पनाले । पयसां समूहम्=जलोंके समूहको । ऊहुः=धारण करते थे ।

सर्वङ्कषा--कान्तेति ।। यत्र=पुरि क्षपासु=रात्रिषु प्रतिक्षपम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । कान्तानि=रम्याणीन्दुकान्तोपलानां=चन्द्रकान्तमणीनां कुट्टिमानि=बद्धभूमयो येषु तेषु । 'कुट्टिमं बद्धभूमिः स्यात्' इति हलायुधः । हर्म्यतलेषूच्चैः=उन्नताः प्रणाल्यः=जलमार्गाः। 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्'इत्यमरः । अधःपातिनः=अधश्चराः पयोमुचः=मेघा यासां ताः । अधोकृतमेघमण्डलत्वात् अज्ञातवृष्टिपाता अपीत्यर्थः । विरोधालङ्कारः । पयसां समूहं=पयः पूरम् ऊहुः=वहन्ति स्म । चन्द्रकान्तनिष्यन्दैरिति भावः । वहेर्लिट् 'वचिस्वपि-' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र सौधानां प्रणालीनां च तादृगीन्नत्यपयःपूरासम्बन्धोक्त्यतिशयोक्तिः ।।४४।

भावार्थ--यद्यपि द्वारकाके महल इतने ऊंचे थे कि मेघ उनकी छत तक पहुँच ही नहीं पाता था, फिर भी चन्द्रकान्त मणियोंसे बने फर्शोंपर चंद्रकिरणें पड़नेसे द्रवित हुए जलसे उन छतोंके ऊंचे पनाले निरन्तर बहते रहते थे ।।४४।।

रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः ।।४५।।

अन्वयः—यत्र अधिगृहम्, गृहिण्यः, रतौ, ह्रिया दीपान् निशाम्य, वैडूर्यकुड्येषु, जालागताभ्यः बिडालेक्षणभीषणाभ्यः शशिद्युतिभ्यः, बिभ्युः ।

पदार्थ–यत्र=जिस (द्वारका) में । अधिगृहम्=घरोंके अन्दर । गृहिण्यः=कुलाङ्गनाएँ । रतौ=रतिकालमें । ह्रिया=लज्जासे । दीपान् निशाम्य=दियोंको बुझाकर । वैडूर्यकुड्येषु=वैडूर्यमणिकी बनी दीवालोंपर । जालागताभ्यः=जालों (रोशनदानों) से आई हुई । बिडालेक्षणभीषणाभ्यः=बिल्लीकी आँखों जैसी भीषण । शशिद्युतिभ्यः=चाँदनियोंसे । बिभ्युः=डरती थीं ।

सर्वङ्कषा—रताविति ।। यत्र=पुरि गृहेष्वधिगृहम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । गृहिण्यः कुलाङ्गना अत एव रतौ=रतिकाले ह्रिया दीपाग्निशाम्य=निर्वाप्य । शमेर्मित्त्वाद्ध्रस्वादेशाभावश्चिन्त्यः । जालागताभ्यः=गवाक्षमार्गप्रविष्टाभ्यः । 'जालं गवाक्ष आनायः' इति विश्वः । विदूरात् प्रभवन्तीति वैदूर्याणि=वालवायजानि मणयः 'वैदूर्यं वालवायजम्' इति विश्वः । 'विदूराञ्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः । अत्र विदूरशब्दो वालवायस्यादेशः पर्यायो वा तत्रोपचारितो वा । तेन वालवायाद्गिरेरसौ प्रभवति न विदूरान्नगरात् । तत्र तु संस्क्रियत इत्याक्षेपः प्रयुक्तः । तदुक्तम्—'वालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा । न वै तत्रैति चेद् ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् ।।' इति तेषां कुड्येषु=भित्तिषु । संक्रान्ताभ्य इति भावः । अत एव तच्छायापत्त्या पैङ्गल्याद्विडालेक्षणवद्भीषयन्त इति भीषणाभ्यः=भयङ्कराभ्यः । नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युप्रत्यये टाप् । शशिद्युतिभ्यो बिभ्युः=भीताः । मौग्ध्यादिति भावः । बिभेतेर्लिट् । अत्र लज्जावारणाय दीपनिर्वापणे न केवलं तदसिद्धिः प्रत्युत भयं चोत्पन्नमित्यनर्थोत्पत्तिरूपो विषमभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना या स्याद्विषमालंकृतिर्मता ।।' इति लक्षणात् ।।४५।।

भावार्थ—जहाँ घरोंके अन्दर कुलाङ्गनायें रतिकालमें लज्जाके कारण दिया बुझा देनेपर, वैदूर्यकी दीवालोंपर गवाक्षोंसे आई हुई चाँदनीको बिल्लीकी आँख सी भयंकर देखकर घबड़ा जाती थीं।

टिप्पणी—वैदूर्य—इसे वालवायज, वैडूर्य या लहसुनियाँ कहते हैं। विदूर शब्दसे प्रभव अर्थमें ञ्य प्रत्यय हुआ है। कुछ लोगोंने विदूरनामक नगरमें उत्पन्न होनेसे इसे वैदूर्य कहा है किन्तु भाष्यकारने स्पष्ट किया है यह वालवाय नामक पर्वतमें उत्पन्न होता है। वालवायको विदूर आदेश हो या बालवायका पर्याय विदूर माना जाय अथवा बालवायसे उत्पन्न हुए मणिको विदूर नामक नगरमें तराशा जाता हो, किसी न किसी रूप में विदूरसे उसका संबंध होनेसे प्रत्यय हुआ है। यह कुछ पीलापन लिये रेखादार होता है। गवाक्षोंसे इसकी दीवालपर पड़ी चाँदनीसे वास्तवमें बिल्लीकी आँखोंकी प्रतीति हो सकती है ।।४५।।

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ।।४६।।

अन्वयः--यस्यां, गृहेषु, अतिश्लक्ष्णतया, आलेख्यं विधातुम्, अशक्नुवन्तः, युवानः, प्रतिविम्बिताङ्गाः, रत्नभित्तीः, सजीवचित्राः, चक्रुः ।

पदार्थ--यस्यां=जिस (द्वारका) में । गृहेषु=घरोंमें । अतिश्लक्ष्णतया=(दीवालें) अत्यन्त चिकनी होनेके कारण । आलेख्यं विधातुं=चित्र बनानेमें । अशक्नुवन्तः=न समर्थ होते हुए । युवानः=युवक लोग । प्रतिविम्बिताङ्गाः=अपने ही शरीरका प्रतिबिम्ब (उन दीवालोंपर) पड़नेसे । रत्नभित्तीः=मणिमय दीवालोंको । सजीवचित्राः=सचेतन चित्रोंवाली । चक्रुः=कर देते थे ।

सर्वङ्कषा--यस्यामिति ।। यस्यां=पुरि गृहेष्वतिश्लक्ष्णतया=रत्नभित्तीनामतिस्निग्धतया आलेख्यं=चित्रं विधातुं=निर्मातुमशक्नुवन्तो युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः=स्वयं तासु संक्रान्तमूर्तयः सन्तो रत्नभित्तीः सजीवचित्राः=सचेतनचित्रवतीरिव चक्रुरित्युत्प्रेक्षा ।।४६।।

भावार्थ---जहाँ घरोंकी दीवालें अत्यन्त चिकनी होनेसे युवक उनपर चित्र तो नहीं बना पाते थे किन्तु अपना ही प्रतिविम्ब उनपर पड़नेसे दीवालोंको सजीव चित्रोंवाली कर लेते थे।

टिप्पणी—युवकोंका चित्र बनानेका शौक भले ही पूरा न होता हो किन्तु उनके घरोंमें घुसते ही प्रतिबिम्ब पड़नेसे दीवालें चित्रित लगती थीं । यद्यपि चित्र निर्जीव होते हैं किन्तु ये चित्र अपने विम्बके अनुसार चेष्टाएँ भी करते थे, यह भाव है ।।४६।।

सावर्ण्यभाजां प्रतिमागतानां लक्ष्यैः स्मरापाण्डुतयाङ्गनानाम् ।
यस्यां कपोलैः कलधौतधामस्तम्भेषु भेजे मणिदर्पणश्रीः ।।४७।।

अन्वयः--यस्यां कलधौतधामस्तम्भेषु प्रतिमागतानां, सावर्ण्यभाजाम्, अङ्गनानाम् स्मरापाण्डुतया, लक्ष्यैः कपोलैः, मणिदर्पणश्रीः भेजे ।

पदार्थ--यस्यां=जिसमें । कलधौतधामस्तम्भेषु=सुवर्णमय घरोंके खम्भोंमें । प्रतिमागतानां=प्रतिबिम्बित हुई । सावर्ण्यभाजां=समानवर्णवाली । अङ्गनानाम्=स्त्रियोंके । स्मरापाण्डुतया=कामोद्रेकसे फीके पड़नेके कारण । लक्ष्यैः=स्पष्ट ही भिन्न प्रतीत होनेवाले । कपोलैः=गालोंसे । मणिदर्पणश्रीः=स्फटिककी शोभा । भेजे=धारणकी गई ।

सर्वङ्कषा--सावर्ण्येति ।। यस्यां=पुरि कलधौतधामस्तम्भेषु=हेमागारस्तम्भेषु । 'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः । प्रतिमागतानां=प्रतिबिम्बगतानां

सावर्ण्यभाजाम्=तत्सावर्ण्यादगृहीतभेदानामित्यर्थः। अतएव सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्। अङ्गनानां स्मरापाण्डुतया लक्ष्यैर्विभिन्नवर्णत्वाद्भेदेन गृह्यमाणैरित्यर्थः। कपोलैर्मणिदर्पणानां=स्फटिकमुकुराणां श्रीरिव श्रीः भेजे=प्राप्ता इति निदर्शना। सा चोक्तसामान्यप्रसादलब्धेति तेनास्याः सङ्करः ॥४७॥

भावार्थ--जिस द्वारकामें सोनेसे बने घरोंके खम्भोंमें प्रतिविम्वित हुई, समान (सुनहरे) वर्णवाली अंगनाओंके कामवश धूसर पड़े हुए कपोल स्फटिककी शोभा देते थे।

टिप्पणी--कविको कहना इतना ही है कि अंगनाओंकी देह और घरोंके खम्भे दोनों सुनहरे हैं अतः देहका प्रतिबिम्ब उनमें पड़नेपर कोई भेद नहीं प्रतीत होता। किन्तु कामवश जो अंगनाओंके गाल फीके पड़ गये हैं उनसे वे स्पष्ट पृथक् पहिचानी जा रही हैं, और सोनेके खम्भोंमें फीकी गालोंके प्रतिबिम्ब स्फटिक मणि जैसे लग रहे हैं। इस सारे वाग्जाल से पाठकके पल्ले कुछ नहीं पड़ता ॥४७॥

शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम्।
यस्यामलिन्देषु न चक्रुरेव मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि ॥४८॥

अन्वयः--यस्यां, मुग्धाङ्गनाः, शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां, गृहदेहलीनां, भासा, लिप्तेषु अलिन्देषु, गोमयगोमुखानि न चक्रुः, एव।

पदार्थ--यस्यां=जिसमें। मुग्धाङ्गनाः=भोली-भाली स्त्रियाँ। शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां=सुग्गोंके शरीर जैसी नीलमणिसे बनी हुई। गृहदेहलीनां=घरकी देहलियोंकी, भासा=कान्तिसे। लिप्तेषु=लीपे हुए। अलिन्देषु=दरवाजोंके वाहरी भागोंमें। गोमयगोमुखानि=गोबरका लीपना। न चक्रुरेव=नहीं ही करती थी।

सर्वङ्कषा--शुकाङ्गेति ॥ यस्यां=पुरि मुग्धाङ्गनाः शुकाङ्गवन्नीलोपलाः=नीलमणयः। मरकतानीत्यर्थः। 'उपलः प्रस्तरे मणौ' इति विश्वः। तैर्निर्मितानां गृहाणां देहल्यः=गृहद्वार-शाखाधारदारुणि। 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः। तासां भासा लिप्तेष्वलिन्देषु=द्वारवहिर्भागेषु। 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः। गोः पुरीषं गोमयम्। 'गोश्च पुरीषे' इति मयट्। तस्य गोमुखानि=विलेपनानि। 'गोमुखं कुटिलाकारे वाद्यभाण्डे विलेपने' इति विश्वः। न चक्रुरेव। मरकतप्रभायां विलेपनभ्रान्त्येति भावः। अत एव भ्रान्ति-

मदलङ्कारः । 'कविसम्मतसादृश्याद्वस्त्वन्तरमतिर्हि यत् । स भ्रान्तिमान्' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारलक्षणात् ॥४८॥

भावार्थ—जिस द्वारका की भोलीभाली स्त्रियाँ सुग्गोंके शरीर जैसी नीलमणिसे बनी देहलियोंकी कान्तिसे युक्त द्वारके बाहरी भागोंको गोबरसे नहीं ही लीपती थी ।

टिप्पणी—नीलमणिकी हरीकान्तिसे उन्होंने समझ लिया कि ये अलिन्द गोबरसे लीपे जा चुके हैं, यह भ्रान्तिमान् अलंकार है ॥४८॥

गोपानसीषु क्षणमास्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः ।
हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैर्गृहाणि नीध्रैरिव यत्र रेजुः ॥४९॥

अन्वयः—यत्र गोपानसीषु, क्षणम्, आस्थितानां, चन्द्रकिणाम्, आलम्बिभिः, कलापैः, गृहाणि, हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः नीध्रैः, इव, रेजुः ।

पदार्थ—यत्र=जहाँ । गोपानसीषु=वलभियोंमें । क्षणम्=थोड़ी देरके लिये । आस्थितानां=बैठे हुए । चन्द्रकिणाम्=मयूरोंके । आलम्बिभिः=लटकते हुए । कलापैः=पंखोंसे । गृहाणि=घर । हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः=मरकत-मणिके साँवले तिनकोंसे मनोहर । नीध्रैः इव=छतोंके किनारोंसे जैसे । रेजुः= शोभित होते थे ।

सर्वङ्कषा—गोपानसीष्विति । यत्र=पुरि गृहाणि गोपानसीषु= वलभीषु । छादनाधारेषु वंशपञ्जरेष्वित्यर्थः । अत एव 'गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणि' इत्यत्र 'पटलाधारवंशपञ्जरे' इत्याह स्वामी । क्षणम्= ईषत्कालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आस्थितानाम्=आसीनानां चन्द्रकाः= मेचकाः । 'समौ चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः । तद्वतां चन्द्रकिणां=मयूराणा-मालम्बिभिः=लम्बमानैः कलापैः=बर्हैः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । हरिन्मणयः=मकरतानि । 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः । तद्वच्छ्यामैस्तृणैरभिरामाणि=हरिततृणमयानीत्यर्थः । तैर्नीध्रैः=पटलप्रान्तैरिव रेजुः । 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्तेऽथ पटलं छदिः' इत्यमरः । छादनपर्यायौ पटलच्छदी । छदयञ्चलवाचिनी वलीकनीध्रे । छदेराधारो वंशपञ्जरो गोपान-सीतिविवेकः । अत एव हरितत्वालम्बनादिगुणक्रियानिमित्तत्वान्नीध्रैरिवेति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ॥४९॥

भावार्थ—जिस द्वारकामें, वलभियोंपर थोड़ी देरके लिये बैठे हुए मोरोंके,

लटकते हुए पंखोंके समूहोंसे, वहांके महल मरकतमणियोंके सांवले दिनकोंसे मनोहर छतोंके किनारेवाले जैसे लगते थे।

टिप्पणी—गोपानसी या वलभी—छतको ढालवाँ बनानेके लिये जो धरन टेढ़ी करके रखी जाती है उसे वलभी कहते हैं। उन वलभियोंपर मोर आकर बैठते थे और वहाँसे अपने पंखोंको नीचे लटका देते थे तो ऐसा प्रतीत होता था मानो इन भवनोंकी छतोंके किनारे मरकतमणिकी सलाखोंसे बनाये गये हैं ॥४९॥

बृहत्तुलैरप्यतुलैर्वितानमालापिनद्धैरपि चावितानैः।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः ॥५०॥

अन्वय—या बृहत्तुलैः अपि अतुलैः, वितानमालापिनद्धैः अपि अवितानैः, विचित्रैः अपि सचित्रैः, विशालैः अपि भूरिशालैः गृहैः रेजे।

पदार्थ—या=जो (द्वारका)। बृहत्तुलैः अपि=बड़ी-बड़ी तुलाओंवाले भी, अतुलैः=तुलाओंसे रहित (यह विरोध प्रतीत होता है। अतुल=अनुपम यह अर्थ करके उसका परिहार होता है)। वितानमालापिनद्धैः अपि=वितानों (चंदोवों) की मालाओंसे गुंथे हुए भी। अवितानैः=वितानोंसे रहित (विरोध है। अवितानैः=अशून्य, भरे पूरे यह अर्थ करके परिहार है) विचित्रैः अपि=चित्रोंसे रहित भी, (विरोध, विचित्र=विलक्षण अर्थ करके परिहार है)। सचित्रैः=चित्रोंसे युक्त। विशालैः अपि=शालाओं (प्रकोष्ठ—बैठक) से रहित भी। (विरोध, विशाल=विस्तृत यह परिहार) भूरिशालैः=बहुतसे कक्षों (कमरों) वाले। गृहैः=भवनोंसे। रेजे=शोभित थी।

सर्वङ्कषा—बृहदिति॥ या=पूः बृहत्यस्तुला=उपरिस्थाप्यदार्वाधारभूतानि स्तम्भाग्रपीठानि येषु तैः बृहत्तुलैस्तथाप्यतुलैः=तद्रहितैरिति विरोधः। अनुपमैरित्यविरोधः। 'तुलामाने पलशते सादृश्ये राशिभाण्डयोः। गृहाणां दारुबन्धाय पीठ्याम्' इति हैमः। वितानानाम्=उल्लोचानां मालाभिः=पङ्क्तिभिः पिनद्धैः=आच्छादितैः तथाप्यवितानैः=तद्रहितैरिति विरोधः। अशून्यैरित्यविरोधः। समस्तवस्तुसमृद्धैरित्यर्थः। 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' 'वितानं त्रिषु तुच्छकम्' इत्युभयत्राप्यमरः। विचित्रैः=लेख्यरहितैरपि सचित्रैः=तत्सहितैरिति विरोधः। विचित्रैरद्भुतैरिति परिहारः। 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। विगताः शाला गृहैकदेशा येषां तानि। 'शाला गृहे तरुस्कन्धे शाखागारैकदेशयोः' इति विश्वः। तैः विशालैरपि भूरिशालैः=प्रचुरगृहैकदेशविशिष्टै-

रिति विरोधः । विशालैः=पृथुलैरित्यविरोधः । 'विशालं पृथुलं महत्' इत्यमरः । 'वेः शालच्छङ्कटचौ' इति शालच्प्रत्ययः । गृहै रेजे । अपिरयं सर्वत्र विरोधे । विरुद्धवदाभासाद्विरोधालङ्कारः । 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति काव्यप्रकाशलक्षणात् ।

भावार्थ—जो द्वारका ऐसे महलोंसे शोभित हो रही थी जो कि बृहत्तुला-वाले होनेपर भी अतुल (अनुपम) थे। वितानोंकी (चंदोवोंकी) मालाओंसे गुंथे हुए भी अवितान (अशून्य, सर्वसमृद्धियुक्त) थे, सचित्र होनेपर भी विचित्र (अनोखे) थे और विशाल (विस्तीर्ण) भी भूरिशाल (प्रचुर प्रकोष्ठों-वाले) थे।

टिप्पणी—तुला-खंभोंके ऊपर लगी हुई और आगेको बढ़ी हुई उस लकड़ीको कहते हैं जिसपर छज्जा (या बरामदा) टिकाया जाता है। यहाँ अतुल, अवितान, विचित्र और विशाल शब्दोंके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थसे बृहत्तुल, वितान, सचित्र और भूरिशाल शब्दोंका विरोध जैसा प्रतीत होता है किन्तु ये शब्द जिस अर्थमें रूढ़ हैं (जैसे—अतुल=अनुपम, अवितान=अशून्य, विचित्र=अनोखे तथा विशाल=विस्तीर्ण) उसके अनुसार उचित अर्थ लग जाता है। परन्तु यह वास्तविक अर्थ लेनेपर 'अपि'का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः यह विरोधका निर्दुष्ट उदाहरण नहीं है ॥५०॥

चिक्रंसया कृत्रिमपत्त्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम् ।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने ॥५१॥

अन्वयः—यस्यां निकेतनानां कपोतपालीषु, कृत्रिमपत्त्रिपङ्क्तेः चिक्रंसया, आयतनिश्चलाङ्गं मार्जारम् अपि, जनः कृत्रिमम् एव मेने ।

पदार्थ—यस्यां=जिस (द्वारकामें) । निकेतनानां=घरोंके । कपोतपालीषु=कबूतरोंके दरबोंमें । कृत्रिमपत्त्रिपङ्क्तेः=कृत्रिम पक्षियोंकी पंक्ति पर । चिक्रंसया=आक्रमणकी इच्छासे । आयतनिश्चलाङ्गं=झुके हुए और स्थिर अङ्गों-वाले । मार्जारमपि=बिल्लेको भी । जनः=लोग । कृत्रिमम् एव=कृत्रिम ही । मेने=समझते थे ।

सर्वङ्कषा—चिक्रंसयेति ॥ यस्यां=पुरि निकेतनानां=वेश्मनाम् । 'वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः । कपोतान् पक्षिणः पालयन्तीति कपोतपाल्यः=विटङ्कापरनामानः स्तम्भाग्रप्रसारिता दारुविशेषाः । 'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । कर्मण्यणि ङीप् । तासु कृत्रिमपत्त्रिणां=दारुमयपक्षिणां पङ्क्तेः कर्मणि षष्ठी । चिक्रंसया=क्रमितुमिच्छया । जिघृक्षयेत्यर्थः । क्रमेः सन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इत्यकारप्रत्यये टाप् । 'स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते' इतीडागमो न भवति । अत्र क्रमेर्वृत्त्यादिव्यतिरिक्तार्थेऽपि 'अनुपसर्गाद्वा' इति

वैकल्पिकस्यात्मनेपदनिमित्तस्यानुपसर्गत्वस्य वैवक्षिकस्य सम्भवात् आयतम्=आनतं वा निश्चलमङ्गं यस्य तं मार्जारं=विडालमपि । 'ओतुर्विडालो मार्जारः' इत्यमरः । जनः कृत्रिमं=क्रियया निर्वृत्तमेव मेने । न तु वास्तवमित्यर्थः । 'ड्वितः क्त्रिः' 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति मम्प्रत्ययः । अनेन कृत्रिमाकृत्रिमभेदो दुर्ग्रह इति शिल्पज्ञानातिशयोक्तिः । अत्र कविकल्पितसादृश्यान्मार्जारजनयोः कृत्रिमाकृत्रिमेषु विपरीतमतिवर्णनाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥५१॥

भावार्थ—जिस द्वारकाके भवनोंमें कबूतर पालनेके दराजोंपर बने हुए (लकड़ी आदिके) पक्षियोंको वास्तविक पक्षी समझकर, उनपर झपटनेके लिये सिकुड़कर निश्चल बैठे हुए बिलारको भी लोग कृत्रिम ही समझते थे ।

टिप्पणी--यहां दो भ्रान्तियां हैं । काठ या पत्थरकी बनी पक्षियोंकी आकृतियोंको बिल्लेने वास्तविक पक्षी समझा, और उनपर झपटनेके लिये वह अपने अंगोंको स्थिर करके बैठा तो लोगों ने उसे भी उन पक्षियोंकी भांति कृत्रिम ही समझा । कविके कथनका तात्पर्य है कि वहांके शिल्पियोंका शिल्प ऐसा उत्कृष्ट था कि कृत्रिम और वास्तविकमें भेद करना कठिन था ॥५१॥

क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार ।
अतीतनक्षत्रपथानि यत्र प्रासादशृङ्गाणि वृथाध्यरुक्षत् ॥५२॥

अन्वयः—यस्यां वधूजनः, क्षितिप्रतिष्ठः अपि, मुखारविन्दैः चन्द्रम् अधश्चकार । अतीतनक्षत्रपथानि प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षत् ।

पदार्थ--यत्र=जिसमें । वधूजनः=स्त्रियोंके समूहने । क्षितिप्रतिष्ठः अपि=भूमिमें स्थित होनेपर भी । मुखारविन्दैः=(अपने) मुखरूप कमलोंसे । चन्द्रम्=चन्द्रमाको । अधश्चकार=तिरस्कृत कर दिया । अतीतनक्षत्रपथानि=नक्षत्रों (तारों)के मार्गका अतिक्रमण करनेवाले । प्रासादशृङ्गाणि=महलोंकी छतोंपर । (वे) वृथा=व्यर्थ ही । अध्यरुक्षत्=चढ़ती थीं ।

सर्वङ्कषा--क्षितीति ॥ यस्यां=पुरि वधूजनः क्षितौ प्रतिष्ठा यस्य स=भूमिस्थितोऽपि चन्द्रम् । दिवि स्थितमिति भावः । तत्रापि मुखैरेवारविन्दैरधश्चकारेति विरोधः । स्वलावण्यमहिम्नाऽधरीचकारेति परिहाराद्विरोधालङ्कारः । अतीतानि नक्षत्रपथमतीतनक्षत्रपथानि । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । 'द्विगुप्राप्तापन्ना-' इत्यादिना परवल्लिङ्गताप्रतिषेधः । प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षत्=अधिरोहति स्म । अनधिरुह्यैवाधःकरणादिति भावः । रोहतेर्लुङ् । 'शल इगुपधादनिटः क्सः' इति च्लेः क्सादेशः । अत्राधःकरणवाक्यार्थस्य श्लेषविरोधोपजीव्यवैयर्थ्ये हेतुत्वात्सङ्कीर्णः काव्यलिङ्गभेदः ॥५२॥

भावार्थ—जिस द्वारकाकी स्त्रियां भूमिमें रहती हुई भी अपने मुखकमलोंको सुन्दरतासे चन्द्रमाको तिरस्कृत कर देती थीं, ताराओंके मार्गको अतिक्रमण

करनेवाले (अत्यन्त ऊँचे) महलोंकी छतोंपर चढ़ना तो उनका व्यर्थ ही होता था।

टिप्पणी--द्वारकाकी स्त्रियोंके मुख चन्द्रमासे भी सुन्दर थे और वहाँके महल नक्षत्रमार्गसे भी ऊँचे थे, इतना ही कथन कविको अभिप्रेत है ॥५२॥

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥५३॥

अन्वयः--यस्यां युवानः रम्या इति पताकाः प्राप्तवतीः, विविक्ता इति रागं वर्धयन्तीः, नमद्वलीकाः वलभीः, वधूभिः समम् असेवन्त।

पदार्थ--यस्यां=जिस (द्वारका) में। युवानः=युवक लोग। रम्या इति= रमणीय हैं इसलिये। पताकाः प्राप्तवतीः=पताका (ध्वजाएँ या प्रसिद्धि) को प्राप्त की हुई। विविक्ता इति=एकान्त या स्वच्छ है इसलिए। रागं=अनुरागको। वर्धयन्तीः=बढ़ाती हुई। नमद्वलीका=छतोंके किनारे जिनके झुके हुए हैं, ऐसी, वलभीः=छज्जों को। वधूभिः समम्=स्त्रियोंके साथ। असेवन्त=सेवित करते थे।

सर्वङ्कषा--रम्या इति। यस्यां=पुरि युवानो रम्या=रमणीया इति हेतोः पताकाः प्राप्तवतीः=उत्क्षिप्तध्वजा इत्यर्थः। अन्यत्र रम्या इत्येवं पताकाः प्राप्तवतीः। प्रसिद्धिं गता इत्यर्थः। 'पताका वैजयन्त्यां च सौभाग्येऽर्कध्वजेऽपि च', 'इति हेतौ प्रकरणे प्रकारादिसमाप्तिषु' इत्युभयत्रापि विश्वः। विविक्ता= विजना विमलाश्च इति हेतो रागं वर्धयन्तीः। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्युभयत्राप्यमरः। नमद्वलीका=नम्रनीध्राः। 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्ते' इत्यमरः। अन्यत्र नमन्त्यो वल्यस्त्रिवल्याख्या मध्यरेखा यासां ता नमद्वलीकाः। 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः। 'वलो मध्यमरेखोर्मिजीर्णत्वग्गृहदारुषु' इति वैजयन्ती। वलभीः=कूटागाराणि। 'कूटागारं तु वलभी' इत्यमरः। वधूभिः सममसेवन्त= वधूसहिता असेवन्तेत्यर्थः। अत्र वधूनां वलभीनां च प्रकृतानामेव धर्मसाधर्म्येणौपम्यावगमात् केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता न श्लेषः। तत्र विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वनियमात्। यथाहुः--'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति ॥५३॥

भावार्थ--जिस द्वारकामें युवक लोग अपनी प्रियाओंके साथ छतोंके ऊपर बने हुए हवादार छज्जोंपर बैठकर आनन्द लेते थे। क्योंकि वे छज्जे रमणीय, पताकाओंसे सजे हुए, एकान्त होनेके कारण रागको बढ़ानेवाले थे।

टिप्पणी--यहाँ टीकाकारोंने पताका, विविक्ता और वलीका शब्दोंको द्व्यर्थक मानकर इनका एक अर्थ वधूपक्षमें और दूसरा वलभी पक्षमें लगाया है, किन्तु हम इसे उचित नहीं समझते। इन विशेषणोंवाली स्त्रियों तथा वल-

भियोंका युवकोंने एक साथ उपभोग किया इस अर्थकी अपेक्षा युवकोंने स्त्रियोंके साथ ऐसी वलभियोंको उपभोग किया, यह अर्थ अधिक रसवर्द्धक हैं। विशेषणोंमें श्लेष तभी माना जा सकता है जब विशेष्य भी श्लिष्ट या समान विभक्तिक हो, यहाँ सममुका साथ अर्थ है एक साथ नहीं, और उसका अन्वय केवल वधूके साथ है इसलिये वधूभिः यह तृतीयान्त प्रयोग है ॥५३॥

सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्वां बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय यूनाम्।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामामोदकर्मव्यतिहारमीयुः ॥५४॥

अन्वयः--यत्र, अप्रतियत्नपूर्वाम्,सुगन्धिताम्, बिभ्रन्ति, मधूनि, कामिनीनां वक्त्राणि च, यूनां प्रमदाय, आमोदकर्मव्यतिहारम् ईयुः।

पदार्थ--यत्र=जहां। अप्रतियत्नपूर्वाम्=बिना किसी संस्कार (कृत्रिम प्रयास) की। सुगन्धितां=सुगन्धताको। बिभ्रान्ति=धारण करते हुए। मधूनि=मद्य। कामिनीनां वक्त्राणि च=और कामिनियोंके मुख। यूनां=युवकोंको। प्रमदाय=उन्मत्त करनेके लिये। आमोदकर्मव्यतिहारम्=परस्पर सुगन्धित करनेके व्यवहारको। ईयुः=प्राप्त हुए।

सर्वङ्कषा--सुगन्धितामिति ॥ यत्र=पुरि न प्रतियत्नः=संस्कारः पूर्वो यस्यास्तामप्रतियत्नपूर्वाम्=अकृत्रिमाम्। स्वाभाविकीमित्यर्थः। 'प्रतियत्नस्तु संस्कारः' इति वैजयन्ती। शोभनो गन्धो येषां तेषां भावस्तत्ता तां सुगन्धितां=सौरभ्यम्। 'गन्धस्येत्–' इतीकारः। बिभ्रन्ति=बिभ्राणानि। 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः। मधूनि=मद्यानि कामिनीनां वक्त्राणि च यूनां प्रमदाय=प्रीत्यै आमोदकर्मणः=वासनाधानस्य व्यतिहारं=परस्परकरणमीयुः। अन्योन्यगन्धेनान्योन्यं वासयामासुरित्यर्थः। इणो लिट्। अत्रापि मधूनां वक्त्राणां च प्रकृतत्वात्तत्पूर्वक एव तुल्ययोगिताभेदः। तेन यूनां मधुवासितवधूवदनपानं वदनवासितगण्डूपपानं च वस्तु व्यज्यते। तेन च निरातङ्कभोगाः पौरा इति गम्यते ॥५४॥

भावार्थ--जहाँ बिना किसी संस्कार (कृत्रिम प्रयास) के (अर्थात् स्वाभाविक रूपसे) सुगन्धिताको धारण करते हुए मद्य और कामिनियोंके मुख युवकोंको उन्मत्त करनेके लिये परस्पर एक दूसरेसे सुगन्धिकर्मका लेनदेन करते थे।

टिप्पणी--कामिनियोंके मुखोंमें भी स्वाभाविक सुगन्ध थी और मद्यमें भी। युवक मद्य पीकर भी उन्मत्त होते थे और कामिनियोंके मुख देखकर भी। ऐसा प्रतीत होता था कि युवकोंको उन्मत्त करनेके लिये इन दोनोंने परस्पर सुगन्धित करनेके कार्यका विनिमय कर लिया था।

कर्मव्यतिहार एक पारिभाषिक शब्द है जिसका प्रयोग व्याकरणमें होता है इसका अर्थ है परस्पर क्रियाका विनिमय ॥५४॥

रतान्तरे यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः ।
रुतानि शृण्वन् वयसां गणोऽन्तेवासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम् ॥५५॥

अन्वयः—यत्र, गृहान्तरेषु, वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः, वयसां गणः, अङ्गनानां रतान्तरे, रुतानि शृण्वन्, स्फुटम् अन्तेवासित्वम् आप ।

पदार्थ—यत्र=जहाँ । गृहान्तरेषु = घरोंके अन्दर । वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः =विहार-मण्डपोंके कंगूरोंकी छतोंपर घोंसले बनाये हुए । वयसां गणः=पक्षियोंका समूह । अङ्गनानां=स्त्रियोंके । रतान्तरे=रतिकालीन । रुतानि=ध्वनियोंको । शृण्वन्=सुनता हुआ । स्फुटम् = प्रत्यक्ष ही । अन्तेवासित्वम् आप=शिष्यत्वको प्राप्त हो गया ।

सर्वङ्कषा—रतान्तर इति । यत्र=पुरि गृहान्तरेषु वितर्दयोः=विहार-वेदिकाः । 'स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका' इत्यमरः । तासां निर्यूहाः=मत्तवारणाख्या अपाश्रयाः । 'निर्यूहो मत्तवारणः' इति वैजयन्ती । तेषां विटङ्काः=उपरितन्यः कपोतपालिकाः त एव नीडाः=कुलाया यस्य सः । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । वयसां=शुकसारिकादिपत्रिणां गणः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इति विश्वः । अङ्गनानाम् । वितर्दिषु रममाणानामिति भावः । रतान्तरे रुतानि=रतिकूजितानि शृण्वन् । अन्ते=समीपे वसन्त इत्यन्तेवासिनः= शिष्याः । 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् : तेषां भावस्तत्त्वमाप । समीपे प्रतिशब्दं यथाश्रुतमुच्चारणादेव-मुत्प्रेक्ष्यते । अत एव स्फुटमिति व्यञ्जकप्रयोगः ॥५५॥

भावार्थ—जहाँ घरोंके भीतर विहारमण्डलोंके कंगूरोंपर बनी कपोत-पालियोंमें घोंसला बनाकर रहनेवाले पक्षियोंका समूह, स्त्रियोंकी रतिकालीन ध्वनियोंको सुनता हुआ स्पष्ट ही उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया ।

टिप्पणी—जैसे गुरु शिष्यको पढ़ाते समय स्वयं एक बार उच्चारण करता है और उसीको शिष्य दोहराता है, इसी प्रकार रतिकालमें स्त्रियाँ जो ध्वनि करती थी ऊपर बैठे हुए पक्षी उसीका अनुकरण करते थे । यह तात्पर्य है ॥५५॥

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥५६॥

अन्वयः—यत्र, छन्नेषु अपि स्पष्टतरेषु, नारीकुचमण्डलेषु, स्वच्छानि, अम्बराणि, केवलं नामतः न, अर्थतः अपि, आकाशसाम्यं दधुः ।

पदार्थ—यत्र=जहां । छन्नेषु अपि=ढके होनेपर भी । स्पष्टतरेषु=स्पष्ट प्रतीत होनेवाले । नारीकुचमण्डलेषु=स्त्रियोंके स्तनमण्डलोंपर । स्वच्छानि=निर्मल । अम्बराणि=अम्बर (वस्त्र) । केवलं नामतः न=केवल नामसे ही नहीं । अर्थतः अपि=क्रियासे भी । आकाशसाम्यं=आकाशकी समानताको । दधुः=धारण करते थे ।

सर्वङ्कषा—छन्नेष्विति । यत्र=पुरि छन्नेषु=आच्छादितेषु । 'वा दान्त-' इत्यादिना वैकल्पिको निपातः । स्पष्टतरेषु=स्फुटतरं लक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः । नारीकुचमण्डलेषु स्वच्छानि=स्फटिकादिवदतिरोधायकानि, अम्बराणि=वस्त्राणि केवलं नामतोऽम्बरमिति नाम्नैवाकाशसाम्यं न दधुः । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इति विश्वः । किन्तु अर्थतोऽपि=अर्थ-क्रिययापि तत्साम्यं दधुः । स्वयमतिसूक्ष्मत्वादव्यवधायकत्वं दृष्ट्यादेर्मूर्तान्तरगत्यविघातित्वं चेत्यादिनापि साम्यं दधुरित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥५६॥

भावार्थ—जिस द्वारकामें ढके रहने पर भी स्पष्ट प्रतीत होनेवाले, स्त्रियोंके स्तनमण्डलोंपर निर्मल वस्त्र, केवल नामसे ही नहीं अर्थ (क्रिया) से भी आकाशकी समानता धारण करते थे ।

टिप्पणी—अम्बरं आकाशका भी पर्याय है और वस्त्रका भी, जैसे आकाश स्वच्छ होता है ऐसे ही द्वारकाकी स्त्रियोंके स्तनोंपर पड़े हुए वस्त्र भी स्वच्छ थे, इसलिये कविका अभिप्राय है कि केवल अम्बर यह नामसाम्य ही नहीं था प्रत्युत स्वच्छताकी क्रिया भी दोनोंमें समान ही थी ॥५६॥

यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः ।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥५७॥

अन्वयः—यस्याम्, अजिह्माः, अपङ्काः, महतीं सीमानम् अत्यजन्तः, अत्यायतयः, द्वये अपि विनीतमार्गाः, अजातस्खलनैः जनैः जातु न अमुच्यन्त ।

पदार्थ—यस्याम्=जिस (द्वारका)में । अजिह्माः=जो टेढ़े नहीं हैं (सीधे), अपङ्काः=कीचड़से रहित महतीं । सीमानं=बड़ी सीमाको । अत्यजन्तः=न छोड़ते हुए । अत्यायतयः=अतिलम्बाईवाले । विनीतमार्गाः=सुन्दर मोड़ोंवाले मार्ग । (तथा) अजिह्माः=कपटसे रहित । अपङ्काः=निष्कलुप । महतीं सीमानमत्यजन्तः=बड़ी मर्यादाको न छोड़ते हुए, अत्यायतयः=अच्छे भविष्यवाले । विनीतमार्गाः=नम्रता (सदाचार)के मार्ग । द्वयेऽपि=(ये) दोनों ही । अजातस्खलनैः=कभी न फिसलते हुए और कभी पथभ्रष्ट न होते हुए, जनैः=लोगोंसे । जातु=कभी भी । न अमुच्यन्त=नहीं छोड़े जाते थे ।

सर्वङ्कषा—यस्यामिति। यस्यां=पुरि अजिह्माः=अवक्राः, अन्यत्राकपटाः। दम्भादिरहिता इत्यर्थः। 'आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा' इति स्मरणादिति भावः। 'जिह्मः कपटवक्रयोः' इति विश्वः। अपङ्काः=कर्दमरहिताः' निष्पापाश्च। 'पङ्कोऽघे कर्दमे' इति हैमः। महतीं सीमानं=राजकल्पितक्षेत्रमानं मर्यादां, कुलागतानुष्ठानस्थितिं चात्यजन्तः। अत्यक्तमहामर्यादा इत्यर्थः। अतिमात्रा आयतिः=आयामः उत्तरकालश्च येषां ते अत्यायतयः। 'आयतिस्तूत्तरे काले संयमायामयोरपि' इति विश्वः। द्वये द्विरूपा अपि। 'प्रथमचरमतया-' इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा। विनीतमार्गाः=सुरचितपुरवीथयः, सुशिक्षिताचारपद्धतयश्च न जातं स्खलनं=पाषाणादिप्रतिघातः, विरुद्धाचरणं च येषां तैर्जनैर्जातु=कदाचिदपि नामुच्यन्त=न त्यक्ताः। न कदाचित्खिलीकृता इत्यर्थः। अत्र मार्गशब्दस्य साधर्म्यादिकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वयप्रतीतेः, द्वयानामपि मार्गाणां प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतविषयोऽर्थश्लेषः विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वान्न तुल्ययोगिता ॥५७॥

भावार्थ—जिस द्वारकामें लोग सीधे कीचड़रहित वड़ी दूर तक पहुँचने वाले, लम्बे मार्गोंको तथा कपट रहित, निष्कलुप, मर्यादा को न छोड़नेवाले तथा अच्छे भविष्यवाले सदाचारके मार्ग को कभी भी नहीं छोड़ते थे।

टिप्पणी—यहाँ पर विनीतमार्गाः यह द्वयर्थक है, एक तो मुड़े हुए रास्ते (जिसपर लोग चलते हैं) और दूसरा सदाचार (जिसपर जीवन चलाया जाता है) अजिह्म आदि सभी विशेषण द्वयर्थक होनेसे दोनों पक्षोंमें अर्थ लगता है। तात्पर्य यह है कि द्वारकाके लोगोंकी भीड़-भाड़से नगरके रास्ते कभी खाली नहीं रहते थे और वहाँ के लोग कभी शिष्टाचार को नहीं छोड़ते थे ॥५७॥

परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधाः।
श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज ॥५८॥

अन्वयः—यत्र, परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः, पौरस्त्रियः, विधाय, वेधाः, श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम्, अलं, ममार्ज।

पदार्थ—यत्र—जहाँ। परस्परस्पर्द्धिपरार्ध्यरूपाः=एक दूसरेसे स्पर्धा करनेवाले श्रेष्ठ स्वरूपोंवाली। पौरस्त्रियः=नागरिकोंकी स्त्रियोंको। विधाय=वनाकर। वेधाः=विधाताने। श्रीनिर्मितिप्राप्त=लक्ष्मीके निर्माणसे उपलब्ध, घुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यं=घुणाक्षरन्यायसे एक रूपवती वन पड़ी, ऐसे अपने अपवादको, अलं-ममार्ज=सदाके लिए मिटा दिया।

सर्वङ्कषा—परस्परेति । यत्र=पुरि परस्परस्पर्धीनि=अहमहमिकयाऽन्योन्यसामर्षीणि परार्घ्यानि=श्रेष्ठानि रूपाणि=सौन्दर्याणि यासां ताः । 'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये' इति विश्वः । पुरे भवाः पौरास्ताः स्त्रियः पौरस्त्रियः । 'स्त्रियाः पुंवत्–' इत्यादिना पुंवद्भावः । विधाय=निर्माय वेधाः=स्रष्टा श्रियः=लक्ष्मीदेव्याः निर्मित्या=निर्माणेन प्राप्तं यत् घुणेन=वज्रकीटेन क्षतस्य=उत्कीर्णस्यैकवर्णस्योपमथा=साम्येन वाच्यम्=अपवादः तदलम्=अत्यन्तम् । तदेव मलमिति केचित् । ममार्ज । घुणाक्षरवत् यादृच्छिकमिदं श्रीदेवतासौन्दर्यशिल्पं न कौशलमित्ययशः चालितवानित्यर्थः । अनया चातिशयोक्त्या पौरस्त्रीणां रमासमानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥५८॥

भावार्थ—जिस द्वारकामें एक दूसरेके सौन्दर्यकी स्पर्धा करनेवाले श्रेष्ठ रूपोंवाली नगरकी स्त्रियोंका निर्माण करके विधाताने अपने उस अपवादको सदाके लिए मिटा दिया, जो कि लक्ष्मीको बनानेपर "घुणाक्षर न्यायसे बन पड़ी" ऐसा, लोगोंसे उन्हें मिला था ।

टिप्पणी—घुणाक्षरन्याय—दीमक या इसी प्रकारका कीड़ा लकड़ी या पत्तोंपर काटकर जो कुछ आकृतियाँ सी बना देता है उनमें कभी किसी अक्षर (क आदिवर्ण) की आकृति भी बन पड़ती है । यद्यपि वह उसे न तो समझता है और न जानबूझकर बनाता है किन्तु अकस्मात् भाग्यसे वह बन पड़ती है । इसीको घुणाक्षरन्याय कहते हैं ।

लक्ष्मीको जब विधाताने बनाया तो लोग कहते थे कि विधाताको ऐसा रूप बनानेकी सामर्थ्य होती तो ऐसी ही और भी किसी स्त्रीको बनाता, यह तो घुणाक्षर न्यायसे बन पड़ी । किन्तु द्वारकाकी सामान्य नागरिक स्त्रियोंको लक्ष्मीसे भी अधिक सौन्दर्यशालिनी बनाकर ब्रह्माने अपनी इस निन्दाको सदाके लिए मिटा दिया । लोग समझ गये कि विधातामें ऐसी सामर्थ्य है । परस्परस्पर्धिपरार्घ्यरूपाःका अर्थ है कि स्त्रियाँ एक दूसरेसे अपने सौन्दर्यको निखारनेकी स्पर्धा करती थीं अर्थात् प्रत्येक स्त्री अन्य स्त्रीकी अपेक्षा अपनेको उत्तम स्वरूपवाली बनाती थी ॥५०॥

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव ।
अध्यूषुषो यामभवज्जनस्य याः सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्याः ॥५९॥

अन्वयः—कल्पोपपदाः वृक्षाः तदेव फलन्ति, यत् अन्तःकरणेन क्षुण्णम्, याम् अध्यूषुषः जनस्य याः सम्पदः, ता मनसः अपि अगम्याः अभवन् ।

पदार्थ—यत्=जितना । अन्तःकरणेन=मनसे । क्षुएणं=सोचा जाता है । तदेव=उतना ही । कल्पोपपदाः=कल्प जिनके पूर्वमें है ऐसे । वृक्षाः=वृक्ष (अर्थात् कल्पवृक्ष) । फलन्ति=फल देते हैं । (किन्तु) याम्=जिस (द्वारका)में । अध्यूषुषः= रहनेवाले । जनस्य=लोगोंकी । याः संपदः=जो संपत्तियाँ हैं । ताः=वे । मनसः अगम्याः=मनसे भी नहीं सोची जातीं ।

सर्वङ्कषा—क्षुएणमिति ॥ यदन्तःकरणेन क्षुएणम्=अभ्यस्तम् । ममेदं भूयादिति भूयोभूयः सङ्कल्पितमित्यर्थः । कल्पयन्ति सङ्कल्पितार्थानिति कल्पाः । कल्पा इत्युपपदं व्यावर्तकं येषां ते कल्पोपपदा वृक्षाः कल्पवृक्षाः तदेव फलन्ति=फलानि निष्पादयन्ति । 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्लट् । कुतः । यां= पुरमध्यूषुषः=यस्यामुषितवतः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । जनस्य याः सम्पदोऽभवन् ता मनसोऽप्यगम्याः । वाचामभूमय इति किमु वक्तव्यमिति भावः । गृहे गृहे कल्पवृक्षसम्बन्धाति- शयोक्त्या पौराणां देवेन्द्रभोगो व्यज्यते । इह कल्प इत्युपपदं स्वसंज्ञकदेशो येषामिति व्याख्याने हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्यादिवदवाच्यवचनदोषावकाशः ॥५९॥

भावार्थ—कल्पवृक्ष उतना ही फल देते हैं जितना कि मन से सोचा जा सकता है किन्तु द्वारका वासियोंकी जो सम्पत्ति है उसकी तो मनसे कल्पना ही नहीं हो सकती ॥५९॥

कला दधानः सकलाः स्वभाभिरुद्भासयन्सौधसिताभिराशाः ।
यां रेवतीजानिरियेष हातुं न रौहिणेयो न च रोहिणीशः ॥६०॥

अन्वयः—सकलाः कलाः दधानः, सौधसिताभिः स्वभाभिः, आशाः उद्भासयन्, रेवतीजानिः रौहिणेयः, यां हातुं न इयेष, न च, (सकला······ रेवतीजानिः) रोहिणीशः (हातुम् इयेष) ।

पदार्थ—सकलाः=समग्र, कलाः=(६४) विद्याओंको, दधानः=धारण करते हुए, सौधसिताभिः=चूना पुते हुए महलों सी (श्वेत) । स्वभाभिः= अपनी कान्तियोंसे । आशाः=दिशाओंको । उद्भासयन्=प्रकाशित करते हुए । रेवतीजानिः=रेवती (ककुद्मिकन्या)के पति । रौहिणेयः=रोहिणीपुत्र (बलराम) । यां हातुं=जिसको छोड़ना । न इयेष=नहीं चाहते थे । न च=और न (सकलाः कलाः दधानः=संपूर्ण (१६) कलाओंको धारण करता हुआ । सौधासिताभिः स्वभाभिः=चूनेकी भाँति श्वेत अपनी कान्तियों (चाँदनियों)से, आशाः उद्भासयन्=दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ । रेवतीजानिः=रेवती (नक्षत्र)

का पति। रोहिणीशः=रोहिणी (नक्षत्र)का स्वामी (चन्द्रमा) ही (हातुम् इयेष=छोड़ना चाहता था)।

सर्वङ्कषा--कला इति। सकलाः=समग्राः कलाः=चतुःषष्टिविद्याः, षोडशभागांश्च दधानः। 'कला शिल्पे कालभेदे' इति, 'कला तु षोडशो भागः' इति चामरः। सुधयावलिप्तं सौधं तद्वत्सिताभिः=स्वभाभिराशाः=दिश उद्भासयन् रेवती=ककुद्मिकन्या, पूषकं भं च जाया यस्य स रेवतीजानिः। 'जायाया निङ्' इति समासान्तो निङादेशः। 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपः। रोहिण्या अपत्यं पुमान् रौहिणेयो=बलभद्रः। 'स्त्रीभ्यो ढक्'। यां=पुरीं हातुं=त्यक्तुं न इयेष नेच्छति स्म। लिट्। रोहिणीशः=चन्द्रश्च हातुं न इयेष। अत्र रौहिणेयरोहिणीशयोः परोत्कर्षावहत्वेन द्वयोः प्रकृतत्वाद्विशेष्यस्याश्लिष्टत्वाच्च केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता। गतमन्यत् ॥६०॥

भावार्थ--जिस द्वारकाको न तो समग्र विद्याओं (६४ कलाओं) को धारण करते हुए, चूना पुते महलोंकी सी अपनी श्वेत कान्तिसे दिशाओंको चमकीली बनाते हुए, रेवती (ककुद्मि कन्या)के पति और रोहिणी पुत्र बलरामजी ही छोड़ना चाहते थे और न संपूर्ण (१६) कलाओंवाला, चूने सी सफेद अपनी चाँदनीसे दिशाओंको भासित करनेवाला, रेवती (नक्षत्र)का पति एवं रोहिणीश चन्द्रमा ही छोड़ना चाहता था।

टिप्पणी--बलदेवजीकी माताका नाम रोहिणी था इसलिये वे रौहिणेय, तथा चन्द्रमा २७ नक्षत्रोंका (जिनमें रोहिणी नक्षत्र भी है) पति होनेसे रोहिणीश कहलाता है। बलरामजी इसमें स्थायी रूपसे निवास करते थे और महलोंके अत्यन्त ऊँचा होनेसे चन्द्रमाकी किरणें भी निरन्तर पड़ती रहती थी। पृथ्वी और चन्द्रमा अपनी धुरी पर इस प्रकार घूमते रहते हैं कि १५ दिन चन्द्रमाका प्रकाशमान भाग धीरे-धीरे पृथ्वीसे दीख पड़ता है और १५ दिन तक क्रमशः नहीं दीखता। इसीको शुक्ल और कृष्ण पक्षकी अथवा कला रूपमें क्रमसे घटने-बढ़नेकी कल्पना कर ली गई है। विशेषणोंमें ही श्लेष है विशेष्यमें नहीं इसलिए तुल्ययोगिता अलंकार है श्लेष नहीं ॥६०॥

बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेरासत्तिमासाद्य जनार्दनस्य।
शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र निःशङ्कमूषे मकरध्वजेन ॥६१।

अन्वयः—यत्र, बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः, जनार्दनस्य, आसत्तिम्, आसाद्य, जैत्रशरेण, मकरध्वजेन, शरीरिणा (सता), निःशङ्कम् ऊषे।

पदार्थ—यत्र=जिस (द्वारका)में, वाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः=वाणासुरके युद्धमें नष्ट कर दी है शिवकी सामर्थ्य जिन्होंने, ऐसे। जनार्दनस्य=श्रीकृष्णकी। आसत्तिं=सामीप्यको। आसाद्य=पाकर। जैत्रशरेण=विजयी वाणोंवाले। मकरध्वजेन=कामदेवसे, शरीरिणा (सता)=शरीरधारी होकर। निःशङ्कम्=विना किसी शङ्काके। ऊषे=रहा जाता था।

सर्वङ्कषा—वाणेति। यत्र=पुरि वाणाहवे=वाणसुरयुद्धे व्याहताः=क्षयं नीता शम्भुशक्तिर्येन तस्य हरविजयिनो जनार्दनस्य=कृष्णस्यासत्तिं=प्रत्यासत्तिमासाद्य। पुत्रत्वं प्राप्येत्यर्थः। शरीरिणा=विग्रहवता। न त्वनङ्गेनेति भावः। जेतार एव जैत्राः=जयशीलाः। तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वादन्प्रत्ययः। ते शरा यस्य तेन मकरध्वजेन=कामेन। प्रद्युम्नरूपेणेति। भावः। निःशङ्कं=निर्भीकमूषे=उषितम्। 'वस निवासे' भावे लिट्। 'वचिस्वपि—' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'शङ्का वितर्कभययोः' इति विश्वः। अत्र शम्भुशक्तिव्याघातपदार्थस्य विशेषणगत्या निःशङ्कनिवासहेतुत्वोक्तेः काव्यलिङ्गभेदः। पुरा किल भगवान् भक्तवत्सलो धूर्जटिर्वाणप्रेम्णा वाणाभियोधिनं हरिमभियुज्यं निर्जित इति पौराणिकाः कथयन्ति ॥६१॥

भावार्थ—वाणासुरके साथ हुए युद्धमें जिन्होंने शिवकी सामर्थ्यको नष्ट कर दिया है, ऐसे श्रीकृष्णका सान्निध्य पाकर विजयी बाणोंवाला कामदेव जहाँ शरीरधारी होकर विना किसी शङ्काके रहता था।

टिप्पणी—एक वार वाणासुरकी कन्या उषाने श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धका अपहरण कर लिया था इसी प्रसंगमें वाणासुर और श्रीकृष्णका घोर युद्ध हुआ, इसीमें शिवजी अपने भक्त बाणासुरकी ओरसे लड़े थे, अन्तमें वाण हार गया था। पार्वतीकी तपस्याके समय शिवजीने क्रुद्ध होकर कामदेवको भस्म कर दिया था और रतिकी प्रार्थनापर अनंग होकर रहनेका आदेश दिया था। यही कामदेव श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नके रूपमें उत्पन्न हुआ था। इसीलिये कविने कल्पना की है कि शिवजीके डरसे कामदेव शरीर धारण करनेमें डरता था अब चूँकि वाणासुरके युद्धमें श्रीकृष्णने शिवकी सामर्थ्य नष्ट कर दी अतः श्रीकृष्णका सहारा पाकर वह शरीरधारी होकर (प्रद्युम्नरूपमें) द्वारकामें रहता था ॥६१॥

निषेव्यमाणेन शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय।
उदग्रशिमरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धावाह्वास्त मेरावमरावतीं या ॥६२॥

अन्वयः—शिवैः मरुद्भिः निषेव्यमाणेन, हरिणा, चिराय, अध्यास्यमाना उद्रश्मि रोमाङ्कुरधाम्नि सिन्धौ, या, (शिवैः मरुद्भिः निषेव्यमाणेन हरिणा चिराय अध्यास्यमाना, उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि) मेरौ, अमरावतीम्, आह्वास्त।

पदार्थ—शिवैः=कल्याणकारक (मन्द-मन्द)। मरुद्भिः=वायुओंसे। निषेव्यमाणेन=सेवा किये जाते हुए। हरिणा=श्रीकृष्णके द्वारा। चिराय= दीर्घकालतक। अध्यास्यमाना=अधिष्ठित हुई, उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि= (ऊपरको) उठती हुई किरणोंके अंकुरोंके स्थानभूत। सिन्धौ = समुद्रमें (स्थित)। या=जो (द्वारका)। शिवैः=रुद्रोंसे, मरुद्भिः=मरुतों (देवताओं)से। निषेव्यमाणेन=सेवित हुए। हरिणा=इन्द्रसे। चिराय अध्यास्यमाना=दीर्घकालतक अधिष्ठित। उद्रश्मिरत्नांकुरधाम्नि=उठती किरणोंवाले रत्नाङ्कुरोंके स्थानभूत। मेरौ=मेरु पर्वतपर (स्थित)। अमरावतीं=अमरावती (इन्द्र नगरी) को। आह्वास्त=ललकारती थी।

सर्वङ्कषा—निषेव्यमाणेनेति। शिवैर्मरुद्भिः=मन्दमारुतैः, अन्यत्र शिवैः= रुद्रैः, मरुद्भिः=मरुद्गणैश्च चिराय निषेव्यमाणेन हरिणा=श्रीकृष्णेन, शक्रेण चाध्यास्यमाना=अधिष्ठीयमाना उद्रश्मीनां रत्नाङ्कुराणां धाम्नि=स्थाने। एकत्र रत्नाकरत्वादन्यत्र रत्नसानुत्वाच्चेति भावः। सिन्धौ स्थितेति शेषः। या=पूः मेरौ स्थिताम् अमरा यस्यां सन्तीत्यमरावतीम्=इन्द्रनगरीम्। 'मतौ बह्वचोऽनजिरा–' इति दीर्घः। संज्ञायाम् 'मादुपधायाश्च–' इति वत्वम्। आह्वास्त=स्पर्धयाऽऽहूतवती। अमरावतीमनुचकारेत्यर्थः। ह्वयतेर्लुङ्'स्पर्धाया-माङः' इत्यात्मनेपदम्। 'ह्विपि सिचि ह्वश्च' इति 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति च्लेरङभावपक्षे सिजादेशः अत्र प्रथमार्धे श्लेषेऽपि सिन्धौ मेरौ स्थिते,त प्रतिबिम्बाभावेन साधर्म्योक्तेः श्लेषानुप्राणितेयमुपमेति संक्षेपः। आह्वास्तेति सादृश्यप्रतिपादकः शब्दः। स्पर्धते ह्वयते द्वेष्टीत्यनुशासनात् ॥६२॥

भावार्थ—मन्द-मन्द वायुओं द्वारा सेवित हुए हरि (=श्रीकृष्ण) द्वारा चिरकालतक अधिष्ठित हुई तथा उठती किरणोंवाले रत्नाङ्कुरोंके स्थानभूत समुद्रमें स्थित जो पुरी (द्वारका), शिवों (=रुद्रों) तथा मरुतों (=एतन्नामक ४९ देवताओं) द्वारा सेवित हरि (=इन्द्र) द्वारा चिरकालतक अधिष्ठित उठती किरणोंवाले रत्नाङ्कुरोंके स्थानभूत मेरुपर्वतपर स्थित अमरावतीको ललकार रही थी।

टिप्पणी—उद्रश्मि०—समुद्र रत्नाकर है इसलिए उसमें रत्नोंकी किरणोंके अङ्कुर ऊपरको उठते दीखते हैं तथा मेरुके रत्नमय शिखर हैं अतः उसमें भी रत्नकिरणाङ्कुर ऊपरको उठते दीख रहे हैं, इसकी शोभा अमरावती सदृश थी यह भाव है ॥६२॥

स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः ।
विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव ॥६३॥

अन्वयः—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः, सुवृत्तः, त्रिलोकीतिलकः, स एव, विशेषको वा, अध्वंसितवर्णकान्तेः वध्वा इव, यस्याः श्रियं विशिशेष ।

पदार्थ—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः=चिकने काजल सी साँवली कान्तिवाले । सुवृत्तः=सुन्दर वृत्त (=चरित्र) वाले । त्रिलोकीतिलकः=त्रिभुवनके अलंकारभूत । स एव=वह (श्रीकृष्ण) ही । (स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः=चिकने और साँवले काजलसे बढ़ गई है शोभा जिसकी, ऐसे । सुवृत्तः=सुन्दर गोल । त्रिलोकीतिलकः=तीनो लोकोंमें तिलक रूपमें विख्यात)। विशेषको वा=विशेषककी भाँति। अध्वंसितवर्णकान्तेः=वर्ण (=स्वरूप) तथा कान्ति (=लावण्य) जिसका नष्ट नहीं हुआ है ऐसी । वध्वा इव=वधूकी तरह, (अध्वंसितवर्णकान्तेः=वर्णों (ब्राह्मणादि) की कान्ति (=उज्ज्वलता) जिसमें नष्ट नहीं हुई है ऐसी)। यस्याः=जिस (द्वारका) की, श्रियं=शोभाको, विशिशेष=बढ़ा रहे थे ।

सर्वङ्कषा—स्निग्धेति । स्निग्धं यदञ्जनं तद्वत्तेन च श्यामरुचिः सुवृत्तः=सद्वृत्तिः, सुष्ठु वर्तुलश्च । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समासः । 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञा । 'आकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यते' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीप् । तस्यास्तिलको=भूषणभूतः स=हरिरेव, विशेषको वा । तिलक इवेत्यर्थः । 'इववद्वायथाशब्दाः' इत्यनुशासनात् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः । अध्वंसिता वर्णानां=ब्राह्मणादीनां कान्तिः=औज्ज्वल्यं यस्यास्तस्याः पुरः, अन्यत्राध्वंसितो वर्णो गौरादि, कान्तिर्लावण्यं च यस्यास्तस्याः । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ' इत्युभयत्राप्यमरः । वध्वा इव श्रियं विशिशेष=विशेषितवान् । अनेकशब्देयमुपमेत्येके शब्दमात्रसादृश्याच्छ्लेष इत्यन्ये । श्लेषोपमेत्याह दण्डी ॥६३॥

भावार्थ—चिकने काजल जैसी साँवली कान्तिवाले, सदाचारी, त्रिभुवनमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण ही, वर्णाश्रमोंके आचार जिसमें नष्ट नहीं हुए हैं ऐसी

जिस द्वारकाकी शोभाको ऐसे बढा रहे थे, जैसे चिकना काजल लगा लेनेपर जिसकी शोभा बढ़ जाती है ऐसा, गोल-गोल, त्रिभुवनमें तिलक नामसे विख्यात विशेषक (=माथेपरका विन्दु), रूप-लावण्य जिसके नष्ट न हुए हों ऐसी अङ्गनाकी शोभाको बढ़ाता है।

टिप्पणी—सौभाग्यवती स्त्रियाँ माथेपर जो टीका लगाती हैं वही विशेषक कहलाता है। अध्वंसितवर्णकान्तेः यह विशेषण कविके कल्पना-दारिद्रयको प्रकट करता है। तैंतीसवें श्लोकसे चला हुआ द्वारका वर्णन इसमें समाप्त होता है॥६३॥

तामीक्षमाणः स पुरं पुरस्तात्प्रापत्प्रतोलीमतुलप्रतापः।
वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीर्या देवसेनेव परैरलङ्घ्या॥६४॥

अन्वयः—अतुलप्रतापः स, तां पुरम् ईक्षमाणः, पुरस्तात्, प्रतोलीं, प्रापत्, या, वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः, देवसेना इव, परैः अलङ्घ्या।

पदार्थ—अतुलप्रतापः=अनुपमपराक्रमवाले, सः=वह (श्रीकृष्ण)। तां पुरम्=उस नगरी (द्वारका) को। ईक्षमाणः=देखते हुए। पुरस्तात्=सामनेकी। प्रतोलीं=गलीमें। प्रापत्=आ गये। या=जो (प्रतोली), वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः=वज्र (इन्द्रका मुख्य अस्त्र) की चमकसे चमक रहे हैं देवताओंके अस्त्र जिसमें ऐसी। देवसेना इव=देवताओंकी सेनाकी तरह। परैः=दूसरों (=शत्रुओं)से। अलङ्घ्या=लांघने योग्य नहीं है।

सर्वङ्कषा—तामिति॥ अतुलप्रतापः स=हरिस्तां पूर्वोक्तां पुरमीक्षमाणः पुरस्तात्=पूर्वस्यां दिशि। सप्तम्यर्थे तसिल् प्रत्ययः। प्रतोलीं=रथ्याम्। 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः। प्रापत्=प्राप्तवान्। लुङि 'पुषादि—' इत्यादिना च्लेरङादेशः। वज्राणां=तोरणप्रासादादिगतहीरकादिमणीनां प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुधश्रीः=इन्द्रचापलक्ष्मीर्यस्यां सा। इह वज्रग्रहणं मणिमात्रोपलक्षणम्। अन्यथेन्द्रायुधासाम्यादिति भावः। अन्यत्र वज्रस्य कुलिशस्य प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुधानामितरदेवतायुधानां श्रीर्यस्याः सा। 'वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ' इत्यमरः। या=प्रतोली देवसेना=सुरचमूरिव परैः=शत्रुभिरलङ्घ्या=दुष्प्रधर्ष्या॥६४॥

भावार्थ—अतुल पराक्रमवाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार उस नगरीको देखते हुए सामनेकी उस गलीमें आये जो, वज्रकी चमकसे देवताओंके अस्त्र जिसमें चमक रहे हों ऐसी, देवसेनाकी भाँति दूसरोंसे अलङ्घ्य थी।

टिप्पणी—वज्रप्रभोदभासिसुरायुधश्रीः=इसका मल्लिनाथने प्रतोलीके पक्षमें अर्थ किया है "तोरणों और महलोंमें लगे रत्नोंकी चमकसे इन्द्रधनुषकी सी शोभावाली ।" ॥ ६४ ॥

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः ।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः पुरान्निरीयुर्मुरजिद्ध्वजिन्यः ॥६५॥

अन्वयः—अरविन्दनाभेः अङ्गात्, प्रजाः इव, शम्भोः जटाजूटतटात्, आपः इव, अथ विधातुः मुखात्, श्रुतय इव, मुरजिद्ध्वजिन्यः, पुरात्, निरीयुः ।

पदार्थ—अरविन्दनाभेः=कमलनाभिके, अङ्गात्=देहसे, प्रजाः इव= प्रजाओंकी तरह । शम्भोः=शिवजीके, जटाजूटजटात्=जटासमूहके किनारेसे, आपः इव=(गङ्गा) जलकी तरह । अथ=और, विधातुः मुखात्=ब्रह्माजीके मुखसे । श्रुतयः इव=वेदोंकी तरह । मुरजिद्ध्वजिन्यः=श्रीकृष्णकी सेनाएँ । पुरात्=नगरसे । निरीयुः=बाहर निकलीं ।

सर्वङ्कषा—प्रजा इति ॥ अरविन्दनाभेः=विष्णोरङ्गात् प्रजा इव । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेरिति भावः । शम्भोर्जटाजूटतटात् आप इव=गङ्गाजलानीव विधातुर्मुखात् श्रुतय इव मुरजितः=हरेः ध्वजिन्यः=सेनाः पुरान्निरीयुः=निर्गताः । मालोपमेयम् ॥६५॥

भावार्थ—जैसे पद्मनाभ (विष्णु) की देहसे समग्र प्रजायें निकलती (उत्पन्न होती) हैं, जैसे शिवजीके जटाजूटसे गङ्गाजल प्रवाहित होता है और जैसे ब्रह्माजीके मुखसे वेद निकलते हैं ऐसे ही द्वारका नगरीसे भी श्रीकृष्ण की सेनाएँ बाहर निकली ।

टिप्पणी—भगवान् विष्णुकी नाभिमें कमल है उससे ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं और वे समग्र संसारकी सृष्टि करते हैं इसलिये विष्णुकी देहसे प्रजाओं-का उत्पन्न होना कहा गया है, इसीको "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" आदि उपनिषद् वाक्योंमें स्पष्ट किया गया है । इसी प्रकार "तस्य निःश्वसितं वेदाः" वेद उस विधाताके निःश्वाससे उत्पन्न हुए ये वाक्य भी हैं ॥६५॥

श्लिष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः ।
परस्परोत्पीडितजानुभागा दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः ॥६६॥

अन्वयः—अन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं, श्लिष्यद्भिः, विलोलैः, हरिभिः, परस्परोत्पीडितजानुभागाः, अश्ववाराः, दुःखेन, निश्चक्रमुः ।

पदार्थ—अन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं=एक दूसरेके मुखाग्र (=थुथने) सट जानेसे लगामें गिर जा रही हैं जिसमें, इस प्रकार। श्लिष्यद्भिः=सटे हुए, विलोलैः=चञ्चल, हरिभिः=घोड़ोंसे। परस्परोत्पीडितजानुभागाः=परस्पर घिस जा रही हैं जाँघें जिनकी ऐसे। अश्ववाराः=घुड़सवार। दुःखेन=बड़े कष्टसे। निश्चक्रमुः=निकल पाते थे।

सर्वङ्कषा—श्लिष्यद्भिरिति। अन्योन्येषां मुखाग्रेषु सङ्गेन स्खलन्तः खलीनाः=कविका यस्मिन्कर्मणि तद्यथा। 'कविका तु खलीनोऽस्त्री' इत्यमरः। श्लिष्यद्भिः=संघृष्यद्भिः विलोलैः=मुहुरुच्चलद्भिः हरिभिः=तुरङ्गैः करणैः। अश्वान् वारयन्ति ये तेऽश्ववाराः=अश्वारोहाः परस्परेणोत्पीडितजानुभागाः सन्तो दुःखेन निश्चक्रमुः=निर्जग्मुः। अत्र स्वभावोक्त्यतिशयोक्तेः सङ्करः ॥६६॥

भावार्थ—एक दूसरेके थुथने सट जानेसे लगामें जिसमें गिरी जा रही थीं ऐसे, सटे हुए चञ्चल घोड़ोंसे परस्पर जिनकी जाँघें पिसी जा रही हैं ऐसे, घुड़सवार बड़ी कठिनाईसे निकल पा रहे थे ॥६६॥

निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने दूरं पथि प्राणभृतां गणेन।
तेजोमहद्भिस्तमसेव दीपैर्द्विपैरसम्बाधमयाम्बभूवे ॥६७॥

अन्वयः—तमसा इव, प्राणभृतां गणेन, निरन्तरालेऽपि, पथि दूरं विमुच्यमाने, तेजोमहद्भिः द्विपैः (तेजोमहद्भिः) दीपैः इव, असम्बाधम्, अयाम्बभूवे।

पदार्थ—तमसा इव=अन्धकारसे जैसे। प्राणभृतां गणेन=प्राणियोंके समूहसे। निरन्तरालेऽपि=निश्छिद्र (ठसाठस भरा) होनेपर भी। दूरं विमुच्यमाने पथि=दूरसे ही छोड़े जाते हुए मार्गमें। तेजोमहद्भिः=महानकान्तिवाले। दीपैः इव=दीपकोंसे जैसे, (तेजोमहद्भिः=तेजस्वी एवं विशाल), द्विपैः=हाथियोंसे, असम्बाधं=बिना संकटके। अयांबभूवे=गमन किया गया।

सर्वङ्कषा—निरन्तराल इति। तमसा=तिमिरेणेव प्राणभृतां गणेन=प्राणिवर्गेण कर्त्रा निरन्तरालेऽपि=पूर्वं स्वेनैवातिसङ्कटेऽपि पथि सम्प्रति दूरं=दूरत एव विमुच्यमाने सति। एकत्र दीपभयादन्यत्र द्विपभयाच्चेत्यर्थः। तेजोमहद्भिः=बलाधिकैः, प्रभासम्पन्नैश्च। 'तेजो बलं प्रभा तेजः' इति विश्वः। द्विपैर्दीपैरिवासम्बाधम्=असङ्कीर्णमयाम्बभूवे=जग्मे। न त्वश्वैरिव कृच्छ्रादिति भावः। 'अय गतौ' भावे लिट्, 'दयायासश्च' इत्याम्प्रत्ययः। स्वतेजसैव दूरोत्सारिततमस्के दीपा इव तथोत्सारितप्राणिके पथि निरर्गलं द्विपाः प्रययुरित्यर्थः। तमसीति सप्तम्यन्तपाठे तु तमसः पथ्युपमानत्वे द्विपागमनात् पथ इव तमसो

दीपागमनात् प्राकृतप्राणिवर्गेण निरन्तरालत्वं पश्चान्मुच्यमानत्वं च न सम्भवतीत्युपमानोपमेययोर्वैरूप्यं स्यात् । तृतीयान्तपाठे तमसः प्राणिवर्गोपमानत्वे तत्सारूप्यसाकल्यात् स एव साधीयानित्यालङ्कारिकाणां पन्थाः ॥६७॥

भावार्थ—घना अन्धकार होनेपर भी जैसे दीपक सामने आनेपर अन्धकार दूर होकर मार्ग साफ हो जाता है ऐसे ही प्राणियोंसे मार्ग ठसाठस भरा होनेपर भी विशाल हाथियोंके आनेपर लोग डरके मारे रास्ता खाली कर देते थे और हाथी विना किसी संकटके चले जाते थे।

टिप्पणी—कुछ टीकाकारोंने "तमसीव" यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, मल्लिनाथ तृतीयान्त मानते हैं। इसी प्रकार वल्लभने द्विपैः में कर्तरि तृतीया और दीपैःमें करणे तृतीया, माना है। हमें तो माघकी इस रचनापर ही तरस आता है। केवल तेजोमहद्भिः यह विशेषण देकर वे हाथीसे दीपककी उपमा देते हैं, औचित्यकी हत्याकी भी कोई सीमा होती है ॥६७॥

शनैरनीयन्त रयात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः ।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः ॥६८॥

अन्वयः—रयात्पतन्तः रथाः, अखेदैः, सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः, तुरङ्गैः, हस्तिनखात्, शनैः, क्षितिम्, अनीयन्त ।

पदार्थ—रयात्पतन्तः=वेगसे आते हुए। रथाः=रथ। सयत्नसूतायतरश्मि=प्रयत्न करते हुए सारथियों द्वारा खींची गई रास (लगाम)से। भुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः=मुड़ी हुई गर्दनोंपर सटे जुवोंवाले। अखेदैः=श्रमरहित। तुरङ्गैः=घोड़ों द्वारा। हस्तिनखात्=हस्तिनखसे। शनैः=धीरे-धीरे। क्षितिम्=पृथ्वीपर। अनीयन्त=लाये गये।

सर्वङ्कषा—शनैरिति। रयात्पतन्तः=धावन्तो रथाः सयत्नैः सूतैः=सारथिभिः। 'सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः। आयता=आकृष्टा ये रश्मयः=प्रग्रहाः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। तैर्भुग्नेषु=प्रह्वेषु ग्रीवाणामग्रेषु संसक्ता युगा=युग्याः स्कन्धवाह्या दारुविशेषा येषां तैरत एवाखेदैः=अश्रमैस्तुरङ्गैः। हस्तिनखात्। हस्तिनखः पूर्द्वारि मृत्कूटः। 'कूटं पूर्द्वारि यद्धस्तिनखस्तस्मिन्' इत्यमरः। तस्माच्छनैः क्षितिमनीयन्त=नीता इति स्वभावोक्तिः। यथावद्वस्तुवर्णनात् ॥६८॥

भावार्थ—वेगसे आते हुए रथोंको, प्रयत्नपूर्वक सारथियों द्वारा लगाम खींचनेपर मुड़ी हुई गर्दनोंसे जिनके जूए सटे जा रहे हैं ऐसे घोड़े, हस्तिनखसे धीरे-धीरे अनायाम भूमिपर ले आये।

टिप्पणी—हस्तिनख—नगरके बहिर्द्वारपर सहसा कोई चढ़ न सके इसलिये वहाँ पर की भूमि ढालवाँ बनाई जाती थी और वह ढलान जहाँ समाप्त हो वहाँ मिट्टीसे ऊँचा कर दिया जाता था, इसीको हस्तिनख कहते हैं। समतल भूमिपर चलनेवाला हाथी जब उस चढ़ाईमें चलता था तो पैर उठाते समय उसका पंजा उसमें टकराता रहता था, इसलिये "हस्तिना खन्यते" इस विग्रहके अनुसार उसे हस्तिनख कहते हैं। उपर्युक्त ढालू भूमिपर रथ वेगसे आते थे आगे उस मिट्टीके ढेरसे टकरा न जाय, इसलिये सारथी घोड़ोंका लगाम खींच लेते थे जिससे उनकी गर्दन पीछेकी ओर मुड़ जाती थी और गर्दनपर रखे हुए जूए परस्पर टकराने लगते थे। तब सारथी उतरकर धीरेसे उस ऊँचे हस्तिनखसे रथोंको समतल भूमिपर लाते थे। स्वभावोक्ति है ॥६८॥

बलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजाया वलयैरिवास्याः।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीत् ॥६९॥

अन्वयः—वलयैः इव बलोर्मिभिः, तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः, अस्याः पुरः, चक्रपाणौ, निष्क्रामति, प्रायेण, द्वारवतीत्वम् इष्टं न आसीत्।

पदार्थ—वलयैः इव=कङ्कणोंकी तरह, बलोर्मिभिः=सेनाप्रवाहोंसे। तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः=तत्काल छोड़ी हुई गलियोंरूप भुजाओंवाली। अस्याः पुरः=इस नगरी (द्वारका) का। चक्रपाणौ=श्रीकृष्णके। निष्क्रामति=(बाहर) निकल आनेपर। प्रायेण द्वारवतीत्वम्=अधिक द्वारोंवाली होना। इष्टं न आसीत्=अभीष्ट नहीं था।

सर्वङ्कषा—बलोर्मिभिरिति। बलान्यूर्मय इव तैर्बलोर्मिभिः वलयैः=कङ्कणैरिव तत्क्षणे=हरिनिष्क्रमणक्षण एव हीयमाना=अपरिच्यमाना रथ्या भुजेव=यस्यास्तस्याः अत एवास्याः पुरः=द्वारवत्याश्चक्रपाणौ=कृष्णे निष्क्रामति=निर्गच्छति सति प्रायेण=भूम्ना द्वारवतीत्वं=द्वारकात्वम्। स्वस्वरूपमिति यावत्। इष्टं नासीत्। हरिविरहे तद्वैफल्यादिति भावः। द्वारवतीशब्दस्य संज्ञात्वात् 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा०) इति न पुंवद्भावः। अन्यत्र द्वारवतीत्वं द्वारवत्वं नेष्टं तस्य हरिनिष्क्रमणहेतुत्वात्, इत्युभयथाप्युपमितभुजवलयगलनहेतुत्वात् उपमासङ्कीर्णेयमनिष्टत्वोत्प्रेक्षा प्रायेणेत्यनेन व्यज्यते ॥६९॥

भावार्थ—(जैसे) किसी स्त्रीकी भुजाएँ कङ्कणोंसे हीन हो जाती हैं ऐसे ही सेनाके मण्डलरूप कङ्कणोंसे हीन (नगरकी) गलीरूप भुजाओंवाली

इस नगरीको भगवान् श्रीकृष्णके बाहर निकल आनेपर अपना द्वारवतीत्व (द्वारका होना—बहुत द्वारोंवाली होना) अच्छा नहीं लगा।

टिप्पणी—यहाँ सत्काव्यकी दृष्टिसे इतना ही पर्याप्त था कि भगवान्के बाहर निकल आनेपर इस नगरीको अपना द्वारवती होना अच्छा नहीं लगा। द्वारवतीत्वका अर्थ है बहुत द्वारोंवाली होना और द्वारका होना। जब श्रीकृष्ण ही नहीं तो द्वारकात्व क्या रहा, अथवा यदि द्वारवती (बहुत द्वारोंवाली) न होती तो श्रीकृष्ण बाहर न जाते। यहाँ कविने "वलयैरिव वलोर्मिभिः तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः" कहकर व्यर्थका झमेला खड़ा किया है। उनका अभिप्राय है जैसे कोई स्त्री प्रायेण द्वारवती (घर घर घूमनेवाली) होती है तो उसका पति उसे छोड़ देता है। तब उसका कङ्कण (सौभाग्य चिह्न) नहीं रह जाता और वह अपने कृत्य (द्वारवतीत्व) पर पछताने लगती है। ऐसे ही गलीरूप भुजाओंसे सेनासमूहरूप कङ्कण निकल जानेपर द्वारकाको भी पश्चात्ताप होने लगा। यह अत्यन्त ग्राम्य कल्पना है ॥६९॥

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥७०॥

अन्वयः—मुरारिः नीरनिधेः पारेजलं, आनीलपलाशराशीः, उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः, वनावलीः, अपश्यत्।

पदार्थ—मुरारिः=श्रीकृष्णने। नीरनिधेः=समुद्रके। पारेजलं=जलके पार (दूसरे तटपर)। आनीलपलाशराशीः=चारों ओर नीले-नीले पत्तोंके ढेरवाली। उत्कलिकासहस्र=हजारों तरङ्गोंसे। प्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभा=प्रतिक्षण किनारेपर फेंके गये सेवारकी सी आभावाली। वनावलीः=वनपङ्क्तियोंको। अपश्यत्=देखा।

सर्वङ्कषा—अथासर्गसमाप्तेः समुद्रं वर्णयति—पार इति। मुरारिः नीरनिधेः=समुद्रस्य जलानां पारे परतीरे पारेजलम्। 'पारावारे रिपवाची तीरे' इत्यमरः। 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' इत्यव्ययीभावः। तत्संयोगादेकारान्तत्वं च पारेशब्दस्य। आ समन्तान्नीला पलाशानां=पत्राणां राशयो यासां ताः। हरितपर्णपूर्णा इत्यर्थः। 'पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः। अत एवोत्कलिकाः=ऊर्मयः। 'ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोलकल्लोललहरिस्तथा' इति हलायुधः। तासां सहस्रैः प्रतिक्षणमुत्कूलिताः=कूलमुद्गताः। कूलं प्रापिता इत्यर्थः। उत्कूलशब्दात् 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। तेषां शैवलानामाभेवाभा

यासां ताः । तत्सदृशीरित्यर्थः । वनावलीरपश्यत् । अत्रोत्कूलितशैवलस्य स्वतः सिद्धसन्देहादुपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्करः ॥७०॥

भावार्थ—नगरसे बाहर निकलनेपर श्रीकृष्णने समुद्रके पार हरे-हरे पत्तोंके ढेरवाली वनपंक्तियों को देखा जो कि हजारों तरङ्गोंसे प्रतिक्षण किनारे पर फेंके जाते हुए सेवारके ढेर सी दीख रही थी।

टिप्पणी—इस श्लोकसे समुद्रका वर्णन प्रारम्भ होता है। यहाँ भी कविकी उदात्त कल्पना अनुचित शब्दावलीके कारण फीकी पड़ जाती है। दूर समुद्रके उस पार हरे-हरे पत्तोंसे ढकी वनपंक्ति श्रीकृष्णको ऐसी दिखाई दी मानो समुद्रकी प्रतिक्षण उठनेवाली हजारों लहरोंसे किनारे पर हरा-हरा सेवार इकट्ठा हो गया हो। स्वभावोक्तिका चित्रण उत्तम है क्योंकि अत्यन्त दूरसे दीखनेवाली वनपंक्ति वस्तुतः ऐसी ही दीखेगी। परन्तु आनीलपलाशराशीःसे प्रतीत होता है जैसे वनपंक्तिमें पत्तोंका ढेर उन्हें दिखाई पड़ा हो ॥७०॥

लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान् द्रुमानसौ नीरदनीलभासः।
लतावधूसम्प्रयुजोऽधिवेलं बहूकृतान् स्वानिव पश्यति स्म ॥७१॥

अन्वयः—असौ, अधिवेलम्, लक्ष्मीभृतः, अम्भोधितटाधिवासान्, नीरदनीलभासः, लतावधूसम्प्रयुंजः, द्रुमान्, (लक्ष्मीभृत……संप्रयुजः) बहूकृतान्, स्वान् इव पश्यतिस्म।

पदार्थ—असौ=यह (श्रीकृष्ण)। अधिवेलम्=तटपर। लक्ष्मीभृतः=शोभाधारण किये हुए। अम्भोधितटाधिवासान्=समुद्रतटपर रहनेवाले। नीरदनीलभासः=मेघ जैसी साँवली कान्तिवाले। लतावधूसंप्रयुजः=लतारूप वधुओंसे लिपटे। द्रुमान्=वृक्षोंको। (लक्ष्मीभृतः=लक्ष्मीको धारण किये, अम्भोधितटाधिवासान्=समुद्रतटमें निवास करनेवाले, नीरदनीलभासः=घनश्याम, लतावधूसंप्रयुजः=लताजैसी वधुओंसे संसक्त), बहूकृतान्=बहुत आकारमें धारण किये। स्वान्-इव=अपने स्वरूपों जैसा। पश्यतिस्म=देखते थे।

सर्वङ्कषा—लक्ष्मीभृत इति। असौ=हरिर्लक्ष्मीं शोभां, श्रीदेवीं च बिभ्रतीति लक्ष्मीभृतस्तान् अम्भोधितटेऽधिवासो येषां तान् नीरदवन्नीलभासो=नीलवर्णान्। लता वध्व इवेत्युपमितसमासः। अन्यत्र लता इव वध्व इति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः। ताभिः सम्प्रयुज्यन्त इति सम्प्रयुजः=सङ्गतान्। क्विप्। अधिवेलं=वेलायाम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। द्रुमान् बहूकृतान्=अनेकीकृतान् स्वान्=स्वकीयविग्रहानिवेत्यर्थः। एवं च पुंल्लिङ्गता-

निर्वाहः। आत्मपरत्वे नपुंसकत्वापातः। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः। पश्यति स्म। श्लेपसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥७१॥

भावार्थ--श्रीकृष्णने किनारेपर, शोभा सम्पन्न, समुद्रमें रहनेवाले, मेघ जैसे साँवले, लतारूप वधुओंसे लिपटे वृक्षोंको (लक्ष्मीको धारण किये, समुद्रवासी, घनश्याम, लता जैसी वहुओंसे घिरे) अपने विभिन्न रूपों जैसे देखा ॥७१॥

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥७२॥

अन्वयः--असौ, आश्लिष्टभूमिम्, उच्चैः रसितारम्, लोलद्भुजाकार-बृहत्तरङ्गम्, फेनायमानम्, आपगानां पतिम्, (आश्लिष्ट.........फेनायमानम्) अपस्मारिणम्, आशशङ्के।

पदार्थ--असौ=इस श्रीकृष्णने। आश्लिष्टभूमिम्=भूमिको आलिङ्गन करते हुए। उच्चैः रसितारम्=जोरसे शब्द करते हुए। लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्=हिलती हुई भुजाओं जैसी बड़ी-बडी तरङ्गोंवाले। फेनायमानम्=फेनसे भरे हुए। आपगानां पतिम्=नदियोंके स्वामी (समुद्र)को। (आश्लिष्टभूमिम्=भूमिपर लोटते हुए, उच्चैः रसितारम्=जोरसे रोते हुए, लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गं=तरङ्गों जैसे लम्वे हाथ-पाँव पटकते हुए, फेनायमानम्=मुँहसे फेन उगलते हुए), अपस्मारिणम्=अपस्मार (मृगी) का रोगी। आशशङ्के=समझा।

सर्वङ्कषा--आश्लिष्टेति। आश्लिष्टभूमिम्=आलिङ्गितभूतलमुच्चैः=तारं रसितारं=क्रन्दितारं लोलतां=चञ्चलतामितस्ततः पततां भुजानामाकार इवाकारो येषां ते बृहत्तरङ्गा यस्य तं यथोक्तं फेनायमानं=फेनमुद्वमन्तम्। 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्' (वा०) इति क्यङ्। अपां समूह आपम् 'तस्य समूहः' इत्यण्। तेन गच्छन्तीत्यापगाः तासां पतिं=समुद्रम्। असौ=हरिरपस्मारिणम्=अपस्माररोगिणमाशशङ्के। तत्कर्मयोगात्तथोत्प्रेक्षां चक्रे इत्यर्थः। यथाहुर्नैदानिकाः--क्रुद्धैर्धातुभिरारतेऽथ मनसि प्राणी मनः सन्दिशन्दन्तान् खादति फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः। पश्यन्रूपमसत्क्षितौ निपतति व्यर्थां करोति क्रियां, विस्म्यत्स स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक् ॥' इति ॥७२॥

भावार्थ--भूमिसे सटे हुए, ऊँचा शब्द करते हुए, हाथों जैसी चञ्चल-तरङ्गोंको इधर-उधर पटकते हुए तथा फेनसे भरे, नदियोंके पति समुद्रको, श्रीकृष्णने अपस्मार (मिरगी)का रोगी समझा, क्योंकि जिसे मिरगी आती है

वह भी भूमिपर लोट जाता है, जोरसे रोता है, हाथ पैर पटकता है और मुँहसे फेन उगलता है।

टिप्पणी—धन्य हैं माघ और धन्य है उनकी बीभत्स कल्पना, यात्राके लिये द्वारकासे निकलते ही श्रीकृष्णको मिरगीका रोगी ही याद आया ॥७२॥

पीत्वा जलानां निधिनातिगार्ध्याद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः।
क्षिप्ता इवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयाञ्चकार ॥७३॥

अन्वयः—स अधिवेलम्, जलानां निधिना, अतिगार्ध्यात् पीत्वा, वृद्धिगते अपि, आत्मनि, नैव, मान्तीः, क्षिप्ताः, इन्दोः रुचः इव, मुक्तावलीः आकलयाञ्चकार।

पदार्थ—स=श्रीकृष्णने, अधिवेलम्=(समुद्रके) तटपर। मुक्तावलीः=मुक्ताओंके ढेरोंको। जलानां निधिना=समुद्रके द्वारा। अतिगार्ध्यात्=अत्यन्त तृष्णासे। पीत्वा=पीकर। वृद्धिगतेऽपि आत्मनि=बढ़ी हुई भी अपनी देहमें। नैव मान्तीः=न अमाती हुई। (अतएव) क्षिप्ताः=फेंकी (उगली) हुई। इन्दोः रुचः इव=चन्द्रमाकी किरणों जैसी। आकलयाञ्चकार=समझा।

सर्वङ्कषा—पीत्वेति॥ जलानां निधिना=समुद्रेण गर्ध एव गार्ध्यम्। औपम्यादिवच्चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्। तदतिमात्रमतिगार्ध्यं तस्मात् तृष्णाभरादित्यर्थः। गृध्नोः पुनरोर्गुणः 'वान्तो यि प्रत्यये' इति गार्धव्यमिति स्यात्। पीत्वा। क्षेपणक्रियापेक्षया पूर्वकालता। अथ वृद्धिं गते आत्मनि=देहे। चन्द्रोदये समुद्रस्य वृद्धिरित्यागमः। नैव मान्तीः=अमान्तीः। अतिरिच्यमाना इत्यर्थः। मातेः शतरि ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' क्षिप्ताः=उद्गीर्णाः इति तृष्णयोत्कटं पीत्वा अन्तरमानाद्बहिरुद्वान्ता इत्यर्थः। इन्दो रुचः=मरीचीरिवेत्युत्प्रेक्षा। स=हरिरधिवेलम्=अधितीरम्। 'वेला कूलविकारयोः' इति विश्वः। मुक्तावलीराकलयांचकार=आकलयामास। कलतिः कामधेनुः॥७३॥

भावार्थ—श्रीकृष्णने समुद्रके किनारे पड़े हुए मोतियोंके ढेरोंको, समुद्रके द्वारा अत्यन्त तृष्णासे पीनेके बाद बढ़ी हुई भी अपनी देहमें न अटती हुई अतएव उगल दी गई चन्द्रमाकी किरणों जैसी समझा।

टिप्पणी—पूर्ण चन्द्रमाको देखकर समुद्रमें ज्वारभाटा आता है, उसकी उठती हुई तरङ्गोंसे किनारोंपर मोतियोंके ढेर लग जाते हैं, उन्हें देखकर श्रीकृष्णने सोचा कि अत्यन्त तृष्णासे चन्द्रकिरणोंको समुद्र इतना पी गया कि उसकी (ज्वारके कारण) बढ़ी हुई देहमें भी वे नहीं अट पाईं, अतः उन्हें

तत्रादावष्टादशोपजातयः । तल्लक्षणं तूक्तमतीतानन्तरसर्गादौ । अत्रासर्गसमाप्ते-र्गिरिवर्णनमेव ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीकृष्णने इन्द्रनील मणियोंकी शिलाओंमें सिले हुए से विभिन्न रंगोंके गैरिकादि धातुओंवाले रैवतक पर्वतको ऐसा देखा मानों पाताललोकके सर्पोंका निःश्वास-धूम वहाँ के विभिन्न रत्नोंकी किरणोंके साथ भूमिको फाड़कर ऊपर उठा हो।

टिप्पणी—रैवतक पर्वत प्रायः इन्द्रनील मणिका ही है, अतः सर्पोंके निश्वास धूमसे उसकी उत्प्रेक्षा की गई है। बीच-बीचमें गैरिकादि विभिन्न रंगोंके धातुमय शिखर भी हैं, जैसे पाताललोकसे भूमिको फाड़कर ऊपर उठते हुए नील धुएके साथ विभिन्न रंगोंवाली रत्नोंकी किरणें भी मिल गई हों, यह तात्पर्य है। यहाँ स्यूत शब्द उपयुक्त नहीं है। स्यूतका अर्थ है सिला हुआ। उपलशिलाएँ सिली नहीं जा सकतीं ॥ १ ॥

गुर्वीरजस्रं दृषदः समन्तादुपर्युपर्यम्बुमुचां वितानैः।
विन्ध्यायमानं दिवसस्य भर्तुर्मार्गं पुना रोद्धुमिवोन्नमद्भिः ॥२ ॥

अन्वयः—गुर्वीः, दृषदः उपर्युपरि, समन्तात्, अजस्रम्, उन्नमद्भिः, अम्बुमुचां, वितानैः, दिवसस्य भर्तुः, मार्गं, पुनारोद्धुं, विन्ध्यायमानम् इव, (गिरिं ददर्श)।

पदार्थ—गुर्वीः=बड़ी-बड़ी। दृषदः=शिलाओं (चट्टानों)के। उपर्युपरि=ऊपर-ऊपर। समन्तात्=चारों ओर। अजस्रम्=निरन्तर। उन्नमद्भिः=उठते हुए। अम्बुमुचां वितानैः=मेघसमूहोंसे। दिवसस्य भर्तुः=सूर्यके। मार्गं=मार्गको। पुनारोद्धुं=फिरसे रोकनेके लिये। विन्ध्यायमानम् इव=विन्ध्याचल-का सा आचरण करते हुए (रैवतकको देखा)।

सर्वाङ्कषा—गिरिं ददर्शेत्युक्तम्, कीदृगित्याकाङ्क्षायामेकान्वयेनाष्टाभिर्वि-शिनष्टि—गुर्वीरिति। गुर्वीः=महतीर्दृषदः=शिलातटीरित्यर्थः। 'पाषाणप्रस्तर-ग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः। उपर्युपरि=दृषदां समीपे। उपरिप्रदेश इत्यर्थः। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इति द्विर्भावे तद्योगाद् द्वितीयेति। यथाह वामनः—'उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया' इति। समन्तादजस्रमुन्नमद्भिः=देशकालाविच्छेदेनोत्पतद्भिरित्यर्थः। अतएव तैरम्बुमुचां वितानैः=मेघवृन्दैर्नि-मित्तैर्दिवसस्य भर्त्तुः=सूर्यस्य मार्गं पुना रोद्धुम्। संहितायां 'रो रि' इति रलोपः 'ढ्रलोपे' इति दीर्घः। विन्ध्यायमानमिव=विन्ध्यवदाचरन्तम्।

उद्धृत्य=अभिप्राय लेकर। संप्रणीताः=बनाई गई। स्मृतीः इव=मन्वादि संहिताओंकी तरह। मेघैः=मेघों द्वारा। तत एव=उस समुद्रसे ही। तोयमुद्धृत्य=जल लेकर। संप्रणीताः=बनाई गई। नदीः=नदियोंको। वेदमिव=वेद जैसे। अम्बुराशिं=समुद्रमें। पतन्तीः=गिरती हुई। हरिः=श्रीकृष्णने। आलोकयामास=देखा।

सर्वङ्कषा—उद्धृत्येति। मुनीन्द्रैस्ततः=वेदाद्वेदार्थमिव मेघैस्ततो=अम्बुधेरेव तोयमुद्धृत्य सम्प्रणीताः=कृता अम्बुराशिं पतन्तीः=प्रविशन्तीर्नदीर्वेदं पतन्तीः स्मृतीः=मन्वादिसंहिता इव हरिरालोकयामास। श्रुतिमूलत्वेनैव प्रामाण्यात्स्मृतीनाम्। तत्संवाद एव तत्सम्प्रदेशः अनेकैवेयमुपमा ॥७५॥

भावार्थ—मुनीश्वरों द्वारा वेदसे ही उसका अभिप्राय लेकर बनायी गई तथा वेदमें ही समाविष्ट होनेवाली मन्वादि संहिताओंकी भाँति, समुद्रसे ही जल लेकर मेघों द्वारा बनाई गई तथा अन्तमें समुद्रमें हो समाजानेवाली नदियोंको भगवान् कृष्णने देखा।

टिप्पणी—यहाँ मुनीन्द्र, वेदार्थ, स्मृतियाँ और वेद ये उपमान हैं तथा मेघ, समुद्रका जल, नदियाँ और समुद्र ये क्रमसे उपमेय हैं ॥७५॥

विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत् ॥७६॥

अन्वयः—दिश्यानि, उरूणि, धनानि, विक्रीय, उत्तमलाभभाजः (तथा) तत्रत्यम्, अफल्गु, भाण्डं, तरीषु, आवपतः, द्वैप्यान्, सांयात्रिकान्, असौ अभ्यनन्दत्।

पदार्थ—दिश्यानि=अन्य दिशाओंसे लाये गये। उरूणि=बहुतसे। धनानि=पदार्थोंको। विक्रीय=बेचकर। उत्तमलाभभाजः=उत्तम लाभ करते हुए। तत्रत्यं=उस द्वारकाके। अफल्गु=सारवान्। भाण्डं=पदार्थोंको। तरीषु=नावोंमें आवपतः=लादते हुए। द्वैप्यान्=द्वीपोंसे आये हुए। सांयात्रिकान्=नाविकोंकी। हरिः=श्रीकृष्णने। अभ्यनन्दत्=प्रशंसा की।

सर्वङ्कषा—विक्रीयेति। दिक्षु भवानि दिश्यानि=दिगन्तरानीतानीत्यर्थः। 'दिगादिभ्यो यत्' उरूणि=महान्ति धनानि=नानाद्रव्याणि विक्रीय=मूल्येन दत्त्वोत्तमलाभं द्वैगुण्यादिकं भजन्तीति तानुत्तमलाभभाजः। तत्रत्यं=द्वैप्यमित्यर्थः। 'अव्ययात्त्यप्' अफल्गु=सारवत्। 'फल्गु तुच्छमसारं च' इति यादवः। भाण्डं=मूलधनम्। पण्यद्रव्यमित्यर्थः। 'वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्व-

भूपयो;' इति वैजयन्ती । तरीषु=नौषु । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । 'अविस्तरिस्तन्त्रिः—' इत्यौणादिक इकारप्रत्ययः । आवपतः=आदधतः । वपतेः शतृप्रत्ययः । संयात्रा सम्भूय यात्रा सा प्रयोजनमेषां तान् सांयात्रिकान्=पोतवणिजः । 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । असौ हरिरभ्यनन्दत् ॥७६॥

भावार्थ—द्वीपान्तरोंसे आये हुए व्यापारी बहुत सी वस्तुओंको द्वारकामें बेचकर पर्याप्त लाभ कमाये और द्वारकासे प्रचुर पदार्थोंको खरीदकर अपने देशोंको ले जा रहे थे, यह देखकर श्रीकृष्णने उनकी प्रशंसा की ।

टिप्पणी—द्वारकाका आयात और निर्यात पर्याप्त उन्नति पर था, यह भाव है । विदेशी वस्तुएँ पर्याप्त मात्रामें अपने देशमें आवें और उनके बदलेमें अपने देशका सामान निकले यह देखकर किसी भी शासकका प्रसन्न होना स्वाभाविक है और अर्थशास्त्रके नियमानुसार देशकी उन्नति का सूचक भी है । इसलिये श्रीकृष्णने उनकी प्रशंसा की ताकि वे पुनः आकर यहाँ के व्यापारको चालू रखें ॥७६॥

उत्पित्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्गरीयसा निःश्वसितानिलेन ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजानिवोच्चिक्षिपिरे फणीन्द्राः॥७७॥

अन्वयः—नदभर्तुः, अन्तः, उत्पित्सवः, फणीन्द्राः, भक्त्या, गरुड़ध्वजस्य, ध्वजानीव, गरीयसा, निःश्वसितानिलेन, पयांसि, उच्चैः, उच्चिक्षिपिरे ।

पदार्थ—नदभर्तुः=समुद्रके । अन्तः=भीतरसे । उत्पित्सवः=उछलनेकी इच्छावाले । फणीन्द्राः=बड़े-बड़े सर्प । भक्त्या=भक्तिसे । गरुड़ध्वजस्य=श्रीकृष्णके लिये । ध्वजानीव=ध्वजाओंकी तरह । गरीयसा=बहुत बड़े । निःश्वसितानिलेन=श्वासवायुसे । पयांसि=जलोंको । उच्चैः=ऊँचे । उच्चिक्षिपिरे=उछाल रहे थे ।

सर्वङ्कषा—उत्पित्सव इति । नदभर्तुः=समुद्रस्यान्तरभ्यन्तरादुत्पित्सवः=उत्पतितुमिच्छवः । पततेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'सनि मीमा—' इत्यादिना इसादेशः । 'अत्र लोपोभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । फणीन्द्राः=सर्पा भक्त्या गरुड़ध्वजस्य=हरेर्ध्वजानीव गरीयसा=अतिमहता निःश्वसितानिलेन=मुखमारुतेन पयांस्युच्चैरुच्चिक्षिपिरे=उत्क्षिप्तवन्तः । उत्प्रेक्षा । स्वरितेत्वादात्मनेपदम् ॥७७॥

भावार्थ—समुद्रके भीतर उछलनेकी इच्छा करते हुए बड़े-बड़े सर्पोंने

श्रीकृष्णकी भक्तिसे जैसे, पताकाओंकी तरह श्वासवायुसे जलोंको खूब ऊँचा उछाला।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण गरुड़ध्वज हैं और गरुड़से सर्पोंका वैर है। उसकी डरसे वे इच्छा रहते हुए भी समुद्रके बाहर नहीं आ पाते, अतः अपनी फुफकार से समुद्रके जलको खूब ऊँचा उछालकर पताकाओं जैसा बनाकर श्रीकृष्णके प्रति अपनी भक्ति प्रकट करते हुए उनका स्वागत कर रहे हैं। यह तात्पर्य है ॥७७॥

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः ॥७८॥

अन्वयः—अम्बुराशिः, युगान्तबन्धुम्, उत्सङ्गशय्याशयम्, तम्, आगतं वीक्ष्य, गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः प्रत्युज्जगाम इव।

पदार्थ—अम्बुराशिः=समुद्र। युगान्तबन्धुं=प्रलयकालके सखा। उत्सङ्गशय्याशयम्=अपनी (समुद्रकी) गोदमें स्थित शय्यापर सोनेवाले। तम्=उस (श्रीकृष्ण) को। आगतं वीक्ष्य=आया हुआ देखकर। गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः=अत्यन्त हर्षसे फैलाई है ऊँची तरङ्गरूप भुजाएँ जिसने ऐसा। प्रत्युज्जगाम इव=अगवानी जैसा किया।

सर्वङ्कषा—तमिति। अम्बुराशिः युगान्तबन्धुम्=आपद्बन्धुमित्यर्थः। उत्सङ्ग एव शय्या शेत इति तथोक्तम्। 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः। आगतम्=अभ्यागतं तं=हरिं वीक्ष्य गुरुणा प्रमोदेन प्रसारिता उत्तुङ्गास्तरङ्गा एव बाहवो यस्य सः सन् प्रत्युज्जगाम=सम्मेलनार्थमागतवानिवेति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥७८॥

भावार्थ—प्रलयकालके एकमात्र सखा और गोदोंकी शय्यापर सोनेवाले उस भगवान् को आया हुआ देखकर समुद्र अत्यन्त हर्षसे ऊँची तरङ्गरूप हाथोंको फैलाकर जैसे स्वागतके लिए आ रहा था।

टिप्पणी—किसी पुराने मित्रको बहुत काल बाद देखनेपर जैसे कोई सहसा गले मिलनेके लिये हाथ फैला रहा हो, ऐसे समुद्रने ऊँची तरङ्गरूप बाहें फैलायी। क्योंकि प्रलयकालमें जब कोई नहीं रह जाता तब समुद्रमें बटके पत्रपर केवल भगवान् ही रहते हैं। यह मित्रताकी प्राचीनता और सकटकालीन होनेसे प्रगाढ़ताका द्योतक है। उत्सङ्गशय्याशयसे तात्पर्य है गोदमें खेलाये हुए ॥७८॥

उत्सङ्गिताम्भःकणको नभस्वानुदन्वतः स्वेदलवान् ममार्ज ।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालतास्फालनलब्धगन्धः ॥७९॥

अन्वयः——उत्सङ्गिताम्भःकणकः, एलालतास्फालनलब्धगन्धः, नभस्वान्, उदन्वतः, अधिवेलम् व्रजतः, तस्य, स्वेदलवान्, अनुवेलम्, ममार्ज ।

पदार्थ——उत्सङ्गिताम्भःकणकः=उत्सङ्गित किये हैं (गोदमें भरे हैं) जलकण जिसमें, ऐसा । एलालतास्फालनलब्धगन्धः=इलायचीकी लताओंको हिलानेसे उनकी गन्ध जिसमें भर गई है ऐसा । नभस्वान्=वायु । उदन्वतः= समुद्रके । अधिवेलम्=किनारे किनारे । व्रजतः=चलते हुए । तस्य=उस (श्रीकृष्ण)के । स्वेदलवान्=पसीनेकी बूँदोंको । अनुवेलम्=प्रतिक्षण । ममार्ज=दूर करता था ।

सर्वङ्कषा——उत्सङ्गितेति । उत्सङ्गिनः=संसर्गिणः कृता उत्सङ्गिताः । 'तत्करोति—' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । उत्सङ्गिता अम्भःकणा येनेति 'शेषाद्विभाषा' इति कप् । एलालतानामास्फालनेन=सङ्घर्षणेन लब्धगन्धः एवं शिशिरसुरभिरुदन्वतो नभस्वान्=समुद्रस्य वायुरधि वेलं=वेलायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । व्रजतस्तस्य हरेः स्वेदलवाननुवेलं=प्रतिक्षणम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । ममार्ज=जहार । 'वेला कूले च जलधेर्वेला तीरविकारयोः' इति विश्वः । काव्यलिङ्गम् ॥७९॥

भावार्थ—जलकी फुहारोंसे भरा तथा इलायचीकी लताओंको हिलानेसे उनकी गन्धवाला वायु, समुद्रके किनारे किनारे चलते हुए उस (श्रीकृष्ण)के पसीनेको प्रतिक्षण पोंछ देता था ।

टिप्पणी—जलकणोंसे भरा होनेसे शीतल, नभश्चर होनेसे मन्द और एलालताओं को कंपाकर आनेसे सुगन्ध युक्त पवन, समुद्रके किनारे किनारे चलते हुए श्रीकृष्णकी थकावटको दूरकर देता था, यह भाव है ॥७९॥

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः ।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः ॥८०॥

अन्वयः—चमूचरैः, उत्तालतालीवनसंप्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः, लावणसैन्धवीनां कच्छभुवां प्रदेशाः आसेदिरे ।

पदार्थ—चमूचरैः=सैनिकोंने । उत्तालतालीवनसंप्रवृत्तसमीर=ऊँचे ऊँचे ताड़के वनोंमें बहते हुए वायुसे, सीमन्तितकेतकीकाः=दो भागोंमें विभक्त कर

दिया है केतकी कुञ्जोंको जिनमें ऐसे। लावणसैन्धवीनां=खारे समुद्र के तटवर्ती। कच्छभुवां=दलदली भूमियोंवाले। प्रदेशाः=स्थल। आसेदिरे=प्राप्त किये।

सर्वङ्कषा—उत्तालेति। चमूषु चरन्तीति चमूचराः=सैनिकाः। 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः।तैः उत्तालेषु=उन्नतेषु तालीवनेषु सम्प्रवृत्तेन समीरणेन=मारुतेन सीमन्तिताः=सीमन्तिन्यः कृताः। सीमन्तशब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति—' इति णयन्तात् कर्मणि क्तः। णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लुक्। ताः=केतक्यो येषु ते तथोक्ताः। 'नद्यृतश्च' इति कप्। लवणसिन्धोरिमा लावणसैन्धव्यः। 'तस्येदम्' इत्यण्। 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य—' इत्युभयपदवृद्धिः। तासां कच्छभुवाम्=अनूपभूमीनाम्। 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः। प्रदेशाः=देशा आसेदिरे=प्राप्ताः। सीदतेः कर्मणि लिट्। अत्र स्वभावोक्तिरनुप्रासश्चालङ्कारौ। ओजःश्लेषसौशब्दसौकुमार्याद्यनेकगुणसम्पत्तिः स्पष्टा ॥८०॥

भावार्थ—श्रीकृष्णके सैनिक धीरे-धीरे क्षार समुद्रकी दलदली भूमिके उन भागोंमें पहुँच गये, जहाँ ऊँचे-ऊँचे ताड़के वनोंमें बहती हवासे केतकीकुञ्ज (नायिकाकी माँगकी भाँति) दो भागोंमें विभक्त हो जाते थे।

टिप्पणी—मल्लिनाथको इस श्लोकमें ओजः श्लेष सौकुमार्य सौशब्द आदि अनेक गुणसम्पत्ति स्पष्ट दिखाई दी है, साथ ही स्वभावोक्ति और अनुप्रास भी। संभवतः कवि कहना चाहता है कि श्रीकृष्णके सैनिक क्षारसमुद्रकी उस दलदली भूमिमें पहुँच गये जहाँ ऊंचे-ऊंचे ताड़ के वन थे और उतनी ही ऊंची केतकीकी लताएँ उन तालवृक्षोंको आवेष्टित की हुई थी। जब हवा चलती थी तो वे लताएँ दो ओर को हो जाती थी जो नायिकाकी माँग जैसी लगती थी ॥८०॥

लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
आस्वादिताद्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः ॥८१॥

अन्वयः—लङ्वगमालाकलितावतंसाः, नारिकेलान्तरपः पिबन्तः, आस्वादिताद्रक्रमुकाः, ते, समुद्रात्, अभ्यागतस्य, प्रतिपत्तिम्, ईयुः।

पदार्थ—लवङ्गमालाकलितावतंसाः=लौंगकी मालाओंसे अपनेको सजाते हुए। नारिकेलान्तरपः पिबन्तः=नारियलके भीतरका पानी पीते हुए। आस्वादिताद्रक्रमुकाः=हरी-हरी सुपारीको चखते हुए। ते=वे (सैनिक)। समुद्रात्=समुद्रसे। अभ्यागतस्य=प्रतिथिके। प्रतिपत्ति=सत्कारको। ईयुः=प्राप्त किये।

सर्वङ्कषा—लवङ्गेति । लवङ्गमालाभिः=लवङ्गकुसुममाल्यैः कलितावतंसाः=कृतभूषणाः । नारिकेलान्तरित्यव्ययम् । नारिकेलाभ्यन्तर इत्यर्थः । अप इति पृथक्पदम् । समासे 'ऋक्पूर–' इत्यादिना समासान्तप्रसङ्गात् । पिबन्तः । आस्वादिताः=भक्षिता आर्द्रक्रमुकाः=आर्द्रपूगीफलानि यैस्ते । 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः । ते=चमूचराः समुद्रादभ्यागतस्य=अतिथेः प्रतिपत्तिं=गौरवं सत्कारमीयुः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च' इति विश्वः । अत्राभ्यागतप्रतिपत्तिप्राप्तेर्विशेषणगत्या अवतंसकलनादिपदार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तेन समुद्रचमूचराणां गृहस्थाभ्यागतौपम्यप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥८१॥

भावार्थ—लौंगकी मालाओंसे अपने अलंकार बनाते हुए, नारियलके अन्दरका जल (डाभ) पीते हुए तथा हरी-हरी सुपारीका स्वाद लेते हुए वे सैनिक समुद्र से अतिथिका सत्कार जैसे पा रहे थे । ॥८१॥

तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः
प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता ।
परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रिय-
श्चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत् ॥८२॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के पुरीप्रस्थानो नाम
तृतीयः सर्गः ॥३॥

अन्वय :—परितः, तुरगशताकुलस्य, प्रतिपथं, प्रमथितभूभृतः, सततं, धृतश्रियः, पुरः परिचलतः बलानुजबलस्य, परम्, एकतुरङ्गजन्मनः, महीभृता भृशं मथितस्य, चिरविगतश्रियः जलनिधेश्च, तदा, महत्, अन्तरम्, अभवत् ।

पदार्थ—परितः=चारों ओर । तुरगशताकुलस्य=सैकड़ों घोड़ोंसे व्याप्त । प्रतिपथं=प्रत्येक मार्गमें । प्रमथितभूभृतः=दबाये हुए राजाओं (अथवा पर्वतों) वाले । सततं=निरन्तर । धृतश्रियः=श्री (शोभा) को धारण करते हुए । पुरः=सामने (अथवा नगर=द्वारका)से । परिचलतः=चलते हुए । बलानुजबलस्य=बलदेवजीके भाई (श्रीकृष्ण) की सेनाका । (और) परम्=केवल । एकतुरङ्गजन्मनः=एक (उच्चैःश्रवा नामक) घोड़ेको उत्पन्न करनेवाले । महीभृता=एक ही पर्वत (मन्दराचल) से । भृशं मथितस्य=बार बार मथे गये । चिरविगतश्रियः=बहुतकाल पूर्व ही (अमृत-मन्थनके समयमें ही) श्री=लक्ष्मी

जिससे निकल चुकी, ऐसे । जलनिधेश्च = समुद्रका । महद् अन्तरम् अभवत् = बहुत बड़ा अन्तर हुआ ।

सर्वङ्कषा—तुरगेति । परितः तुरगशतैराकुलस्य = अपरिमिताश्वस्येत्यर्थः । प्रतिपथं = प्रतिमार्गम् । यथार्थेऽव्ययीभावे समासान्तः । प्रमथिताः = क्षुण्णा भूभृतो = राजानः, गिरयश्च येन तस्य । न तु स्वयं केनापि मथितस्येति भावः । सततं धृता श्रीः शोभा, रमा च येन तस्य धृतश्रियः पुरोऽग्रे, नगराद्वा परिचलतः = परिगच्छतः बलो = रामस्तस्यानुजस्य हरेर्बलस्य = सैन्यस्य । 'बलं सैन्ये बलो रामे' इत्युभयत्रापि शाश्वतः । परं केवलमेकस्यैव तुरङ्गस्य जन्म जन्ममात्रं यस्मात्तस्यैकतुरङ्गजन्मनः । एकोऽपि जात एव न त्वस्तीति भावः । महीभृता = मन्दराद्रिणा, राज्ञा च मथितस्य । न तु स्वयं कस्यापि मथितः । सततं विगतश्रियः । उत्पत्त्यनन्तरमेवास्या हरिस्वीकरणादिति भावः । जलनिधेश्च तदा = प्रस्थानसमये महदन्तरं = दूरगमनादिव्यवधानम्, उत्करीत्या महत्तारतम्यं चाभवत् । अत्रोपमेयस्य हरिबलस्योपमानाज्जलधेराधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कारः । पञ्चकावली वृत्तम् । 'नजभजजा जरौ नरपते कथिता भुवि पञ्चकावली' इति लक्षणात् । धृतश्रीवृत्तमिति कश्चित् । 'नजभपुरस्कृता जजजरा रचिता भुवि रुद्रदिक्पतिः' इति लक्षणात् ॥८२॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-
काव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये तृतीयः सर्गः ॥३॥

भावार्थ—उस समय बलदेवजीके भ्राता (श्रीकृष्ण) की सेना और समुद्रमें बहुत बड़ा अन्तर हो गया था । क्योंकि सेना सैकड़ों घोड़ोंसे भरी थी जबकि समुद्र केवल एक (उच्चैःश्रवा) घोड़ेको उत्पन्न कर पाया था। सेना प्रतिमार्गमें कितने ही भूभृतों (पर्वतों अथवा राजाओं) को मथन (अधीन) कर चुकी थी, जबकि समुद्रको एकही भभृत् (मन्दर) ने कई बार मथ डाला था । सेना निरन्तर श्री (शोभा) को धारण की थी, जबकि समुद्रसे श्री (लक्ष्मी) बहुत पहिले ही निकल चुकी थी ।

टिप्पणी—यहाँ यद्यपि श्रीकृष्णकी सेनाका उत्कर्ष एवं समुद्रका अत्यन्त अपकर्ष दिखाकर दोनोंमें महान् अन्तर दिखाया गया है किन्तु कथाप्रसङ्गकी दृष्टिसे "बलानुजबलस्य जलनिधेश्च महदन्तरमभवत्" इससे प्रतीत होता है कि सेना समुद्रसे काफी दूर निकल गई ।

सर्गके अन्तमें भिन्न छन्द रखनेकी कविपरम्परा है, अतः माघने भी सर्गान्तमें

भिन्न छन्द रखा है। मल्लिनाथ ने इसे पञ्चकावली छन्द कहा है। कोई इसे घृतश्री छन्द भी कहते हैं। जैसाकि वृत्तरत्नाकर की टीकामें नारायणभट्टने "न ज भ ज ज ज रैर्घृतश्री" लक्षण करके इसी पद्यको उदाहरण रूपमें रखा है। छन्दोमञ्जरी तथा प्राकृतपिङ्गलसूत्रकार ने इसे "सरसी" नामसे कहा है और उदाहरणमें माघके इसी पद्यको रखा है। हलायुधने छन्दःशास्त्र टीकामें इसीको "शशिवदना" कहा है॥ ८२॥

साहित्याचार्य-पाण्डेय-श्रीजनार्दनशास्त्रिणा।
कृता तृतीयसर्गस्य व्याख्येयं पूर्णतामगात्॥३॥

● ●

चतुर्थः सर्गः

कुलकम् (१–९)

निःश्वासधूमं सह रत्नभाभिर्भित्त्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम्।
नीलोपलस्यूतविचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श॥१॥

अन्वयः—नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम्, रत्नभाभिः सह, भूमिं भित्त्वा उत्थितम्, उरगाणां निःश्वासधूमम्, इव, रैवतकं गिरिम्, असौ ददर्श।

पदार्थ—नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम् = नीलोपल (=इंद्रनीलमणि)से बीच-बीचमें गुथे हुएसे, विभिन्न धातुओंवाले। रत्नभाभिः सह=रत्नोंकी कान्तियोंके साथ। भूमिं भित्त्वा उत्थितम्=भूमिको फाड़कर उठे हुए। उरगाणां=(पातालस्थ) नागोंके। निःश्वासधूमम् इव=श्वास धूमकी तरह। रैवतकं गिरिम्=रैवतक पर्वतको। असौ ददर्श=इस (श्रीकृष्ण)ने देखा।

सर्वङ्कषा—निःश्वासेति। नीलोपलैः=इन्द्रनीलमणिभिः स्यूताः=प्रोता विचित्रा=नानावर्णा धातवः=गैरिकादयो यस्य तम्। अत एव रत्नभाभिः=मणिप्रभाभिः सह भूमिं भित्त्वा, उत्थितम्=ऊर्ध्वं निर्गतम् उरगाणां निःश्वासधूमं=फूत्कारबाष्पमिव स्थितं रैवताख्यं गिरिमसौ=हरिर्ददर्श। स्यूतेति सीव्यतेः कर्मणि क्तः। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्युडादेशे यणादेशः। अत्र गिरेर्विशिष्टवर्णनीयत्वेन विशिष्टधूमत्वोत्प्रेक्षणाद् गुणनिमित्तजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा। सर्गेऽस्मिन्नानावृत्तानि।

उगलकर किनारेपर ढेर लगा दिया है। श्रीकृष्णको मिरगीके वाद अजीर्णका रोगी दीख पड़ा ॥७३॥

साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान् पिबतो ददर्श ॥७४॥

अन्वयः—अमी, साटोपम्, अनिशम्, नदन्तः, यैः उर्वीं, समन्ततः, प्लावयिष्यन्ति, तानि, अम्भांसि, पयोधेः एकदेशात्, निभृतं पिवतः, मेघान्, स, ददर्श।

पदार्थ—अमी=ये (मेघ)। साटोपम्=आडम्बरके साथ। अनिशं=रातदिन। नदन्तः=गरजते हुए। यैः=जिन (जलों)से। उर्वीं=पृथ्वीको। समन्ततः=चारों ओर। प्लावयिष्यन्ति=डुवा देंगे। तानि अम्भांसि=उन जलोंको। पयोधेः=समुद्रके। एकदेशात्=एकभागसे। निभृतं=चुपचाप। पिवतः=पीते हुए। मेघान्=मेघोंको। स ददर्श=उस (श्रीकृष्ण)ने देखा।

सर्वङ्कषा—साटोपमिति। अमी=मेघाः साटोपं=ससम्भ्रमम्। 'सम्भ्रमाटोपसंरम्भाः' इति यादवः। अनिशं नदन्तः=गर्जन्तो यैस्तोयैः=अम्भोभिरुर्वीं समन्ततः प्लावयिष्यन्ति तानि=अम्भांसि पयोधेरेकदेशात्=एककोणान्निभृतं=निश्चलं यथा तथा पिवतो मेघान् स=हरिर्ददर्श=एतेन समुद्रस्यापरिच्छिन्नरूपत्वं व्यज्यते ॥७४॥

भावार्थ—जो मेघ बड़े आडम्बरसे रातदिन गरजते हुए जिन जलोंसे पृथ्वीको चारों ओरसे डुवा डालेंगे, उन्हीं जलोंको समुद्रके एक कोनेसे चुपचाप पीते हुए मेघोंको श्रीकृष्ण ने देखा।

टिप्पणी—समुद्र इतना विशाल है कि संसारको चारों ओर डुवाने योग्य जल वरसानेवाले मेघ इसके एक कोनेसे इतना जल लेते हैं, यह भाव है। अच्छा होता यदि इस श्लोकका उत्तरार्द्ध पहिले और पूर्वार्घं वादमें पढ़ा जाता, इससे यैः और अमी ये सर्वनाम साकांक्ष न रहते ॥७४॥

उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः।
आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम् ॥७५॥

अन्वयः—मुनीन्द्रैः, ततः एव, अर्थम्, उद्धृत्य, संप्रणीताः, स्मृतीः इव मेघैः, तत एव, तोयम्, उद्धृत्य, संप्रणीताः, नदीः, वेदमिव, अम्बुराशिं, पतन्तीः, हरिः आलोकयामास।

पदार्थ—मुनीन्द्रैः=श्रेष्ठमुनियोंके द्वारा। तत एव=वेदसे ही। अर्थम्

तद्वद्वर्धमानमिव स्थितमित्यर्थः। आचारे क्यङन्ताल्लटः शानजादेशः। अत्रावि-च्छिन्नमेघोन्नमनेन विन्ध्यायमानत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपयोरुत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

भावार्थ—बड़ी-बड़ी शिलाओंके ऊपर-ऊपर चारों ओर निरन्तर उभड़ते हुए मेघोंसे, सूर्यके मार्गको फिरसे रोकनेके लिए बढ़ते हुए विन्ध्याचल जैसे (रैवतकको श्रीकृष्ण ने देखा)।

टिप्पणी—एक बार विन्ध्याचलको ईर्ष्या हुई कि "मेरुपर्वतकी सूर्य परिक्रमा करता है और सभी देवता उसपर वास करते हैं, मुझपर न तो किसी देवताका वास है और न सूर्य मेरी परिक्रमा ही करता है।" अतः उसने बढ़ना प्रारम्भ किया और इतना ऊँचा बढ़ा कि सूर्यका मार्ग रुक गया। त्रिभुवनमें हाहाकार मच गया। तब देवताओंकी प्रार्थनापर अगस्त्य ऋषिने काशी छोड़कर दक्षिण दिशामें रहना स्वीकार किया और उन्हें मार्ग देनेके लिए विन्ध्याचल ज्योंही झुका तो ऋषिने कहा मैं जब तक न लौटूँ तब तक झुके ही रहना, क्योंकि मैं वृद्ध हूँ और तुम्हारी ऊँची चोटियोंपर चढ़ना मेरे लिये सम्भव नहीं। विन्ध्यने स्वीकार कर लिया। फिर न अगस्त्य लौटे और न विन्ध्याचलके शिखर ऊँचे हुए। इसीपर यह लोकोक्ति बन गई—न मुनिः पुनरायाति न चासौ वर्धते गिरिः।

यह उपाख्यान प्रायः सभी पुराणोंमें पाया जाता है विशेषतया काशीखण्डमें। यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है कि बड़ी-बड़ी शिलाओंके ऊपर-ऊपर उभड़ते हुए मेघ ज्यों-ज्यों ऊपरको उठते थे, त्यों-त्यों ज्ञात होता था जैसे विन्ध्याचल पुनः सूर्यका मार्ग रोकने जा रहा हो। रैवतक समुद्रके किनारेका पर्वत है एक तो वह स्वयं ऊँचा है दूसरे चोटियोंपर बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, उनपर घना कुहरा होना उसका वेग से मेघाकार होकर ऊपरको उठना स्वाभाविक ही है।

हमारे विचारसे यहाँ "विन्ध्यायमानम् इव" में इव शब्द व्यर्थ है क्योंकि "विन्ध्यमिवाचरन्तं विन्ध्यायमानम्" इसीमें इव गतार्थ है ॥ २ ॥

क्रान्तं रुचा काञ्चनवप्रभाजा नवप्रभाजालभृतां मणीनाम्।
श्रितं शिलाश्यामलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः ॥ ३ ॥

अन्वयः—नवप्रभाजालभृतां, मणीनां, काञ्चनवप्रभाजा, रुचा, क्रान्तम्, शिलाश्यामलताभिरामम्, आमन्त्रितषट्पदाभिः लताभिः श्रितं (गिरिं ददर्श)।

पदार्थ—नवप्रभाजालभृतां=नूतन कान्तिसमूहको धारण करनेवाली। मणीनां=मणियोंके। काञ्चनवप्रभाजा=सुनहरे प्राकार (परकोटे) जैसे शिखरों-पर फैली। रुचा=कान्तिसे। क्रान्तम्=व्याप्त। शिलाश्यामलताभिरामम्=(इन्द्रनील) शिलाओंके सांवलेपनसे मनोहर। आमन्त्रितषट्पदाभिः=भौंरे जिनपर गूंज रहे हैं, ऐसी। लताभिः श्रितम्=लताओंके आश्रयभूत (रैवतकको देखा)।

सर्वङ्कषा—क्रान्तमिति। पुनः नवानि प्रभाजालानि विभ्रतीति नवप्रभाजालभृतः तेषां मणीनां सम्बन्धिन्या काञ्चनवप्रभाजा=स्वर्णसानुप्रभृतया रुचा=दीप्त्या क्रान्तं=व्याप्तम्। पुनः शिलानां=मेचकोपलानां, इन्द्रनीलानां वा श्यामलतया=श्यामलिम्ना अभिरामम्। तथा आमन्त्रितषट्पदाभिः=मकरन्दपूरितत्वादाहूतभृङ्गाभिः लताभिः श्रितं=व्याप्तम्। इतः परं द्व्यन्तरमेकं यमकं वक्ष्यति। तत्र तदेवालङ्कारः। अर्थालङ्कारस्त्वस्युच्येय इति यथासम्भवमूह्यम्। यमकलक्षणं त्वाचार्यदण्डिनोक्तम्—'अव्यपेतव्यपेतात्मा या वृत्तिर्वर्णसंहतेः। यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम्॥ एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां प्रकल्पना। आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसंभवतः॥ अत्यन्तं बहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः। सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन॥' इति॥ ३॥

भावार्थ—नये-नये कान्ति-समूहको धारण करती हुई मणियोंकी, सुनहरे शिखरोंपर पड़नेवाली कान्तिसे व्याप्त, इन्द्रनील शिलाओंके सांवलेपन से रमणीय, भौंरे जिनपर गूंज रहे हैं, ऐसी लताओंसे व्याप्त रैवतकको श्रीकृष्णने देखा।

टिप्पणी—इस पद्यसे आगे माघने यमक और अनुप्रासके जितने भेद हो सकते हैं सभीके प्रदर्शनका कौशल अपनी रचनामें दिखाया है॥ ३॥

सहस्रसंख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम्।
विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम्॥४॥

अन्वय:—सहस्रसंख्यैः शिरोभिः गगनं, (सहस्रसंख्यैः) पादैः भुवं, व्याप्य वितिष्ठमानम्, विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं, साधु हिरण्यगर्भं (गिरिं ददर्श)।

पदार्थ—सहस्रसंख्यैः=हजारों संख्यामें। शिरोभिः=शिखरोंसे। गगनं=आकाश को। (तथा) पादैः=(हजारों) पैरों (छोटे शिखरों)से। भुवं=पृथ्वीको। व्याप्य=व्याप्त करके। वितिष्ठमानम्=स्थित। विलोचनस्थानगतोष्ण-

रश्मिनिशाकरं=नेत्रोंके स्थानमें सूर्य और चन्द्रमावाले। साधु=वास्तवमें। हिरण्यगर्भं=सुवर्णसे भरे। (रैवतकको देखा)।

सर्वङ्कषा—सहस्रेति। सहस्रमिति संख्या येषां तैः सहस्रसंख्यैः शिरोभिः=शिखरैः शीर्षैश्च गगनं तथा तत्संख्यैः पादैः=प्रत्यन्तपर्वतैश्चरणैश्च भुवं च व्याप्य वितिष्ठमानम्=अवतिष्ठमानम्। 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम्। विलोचनयोर्यत्स्थानं=योग्यदेशस्तद्गतावुष्णरश्मिनिशाकरौ यस्य तम्। अन्यत्र नेत्रकृतार्केन्दुमित्यर्थः। अतः साधु=सत्यं हिरण्यगर्भं=ब्रह्माणमिवेत्युत्प्रेक्षा। 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिश्रुतेरिति भावः। हिरण्यगर्भो निधिगर्भश्च ॥४॥

भावार्थ—हजारों ऊँचे शिखरोंसे आकाशको तथा हजारों पैरों (छोटी चोटियों) से भूमिको व्याप्त किए हुए, तथा सूर्य-चन्द्रमा जिसके नेत्र जैसे दीख रहे हैं ऐसे, और जो वास्तवमें हिरण्यगर्भ है ऐसे रैवतकको श्रीकृष्णने देखा।

टिप्पणी—"साधुहिरण्यगर्भमिव साधुहिरण्यगर्भं" इस प्रकार समास करके अधिक श्लेष मानकर टीकाकारोंने यहाँ हिरण्यगर्भ (विराट् पुरुष)की उत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि श्रुतियोंने उसे सहस्रशीर्षा और सहस्रपात् कहा है। सूर्य चन्द्रमा उस विराट् पुरुषके नेत्र कहे जाते हैं और रैवतक इतना ऊँचा है कि सूर्यचन्द्रमा उसकी आँखें जैसे लगते हैं ॥ ४ ॥

क्वचिज्जलापायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि।
अभ्राणि बिभ्राणमुमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानमिव स्मरारिम् ॥५॥

अन्वयः—क्वचित्, जलापायविपाण्डुराणि, धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि, अभ्राणि, बिभ्राणम्, उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानम्, स्मरारिम् इव (रैवतकं ददर्श)

पदार्थ—क्वचित्=कहीं कहीं। जलापायविपाण्डुराणि=जल न रह जानेसे धूसर वर्णके। धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि=धुले हुए उत्तरीय (दुपट्टा) की सी कान्तिवाले। अभ्राणि=बादलोंको। बिभ्राणम्=धारण करते हुए। उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानम्=पार्वतीके आलिङ्गनसे (कहीं-कहीं) मिट गये भस्मवाले। स्मरारिम् इव=शिवजी जैसे, (रैवतक पर्वतको देखा)।

सर्वङ्कषा—क्वचिदिति। पुनः क्वचित्=एकदेशे जलानामपायेन=अपगमेन विपाण्डुराणि=शुभ्राणि अत एव धौतं=क्षालितं यदुत्तरीयं तत्प्रतिमा=तत्समा छविर्येषां तान्यभ्राणि=मेघान् बिभ्राणं=दधानम्। भृञः कर्तरि

शानच्। अत एवोमाया=पार्वत्या अङ्गसङ्गेन=अर्धभागेन विभक्तं=एक-भागस्थापितं भस्म यस्य तं स्मरारिं=हरमिव स्थितमित्युपमालङ्कारः ॥५॥

भावार्थ—कहीं-कहीं पर जल रिक्त होनेसे पाण्डुवर्णवाले, धुले हुए दुपट्टेकी सी कान्तिवाले बादलोंको धारण करते हुए रैवतकको पार्वतीका आलिङ्गन करनेसे कहीं-कहीं भस्म जिसमेंसे वट गई हो ऐसे शिवजी जैसा देखा।

टिप्पणी—उपमा अलंकारकी तो माघ जैसे हत्या ही कर मारते हैं। यहाँ इन्हें अभिप्रेत तो यह है कि उस पर्वतपर कहीं-कहीं पानी रहित शुभ्र वर्णवाले और कहीं पानी सहित धूम्रवर्णके मेघ हैं, जिनसे वह शिवजीकी उस देह-सा लगता है जिसमें पार्वतीका आलिङ्गन करनेसे कहीं-कहींकी भस्म छूट गई है। अर्थात् जहाँ शुभ्र मेघ हैं वहाँ भस्मसहित और जहाँ धूसर मेघ हैं वहाँ भस्मरहित देह-सा लगता है। धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि इस भौंडे विशेषणसे प्रतीत होता है उपमेय वह भाग है जहाँ के मेघ जलापायविपाण्डुरच्छवि हैं और उमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानम्से प्रतीत होता है उपमान वह भाग है जहाँकी भस्म छूट गई है ॥५॥

छायां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किंचिच्चटुलालसानाम्।
कुर्वाणमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां जलजातपत्रैः ॥६॥

अन्वयः—निजस्त्रीचटुलालसानां, मदेन, किंचिच्चटुलालसानां, विहङ्गमानाम्, उत्पिञ्जलजातपत्रैः, जलजातपत्रैः, छायां कुर्वाणम् (गिरिं ददर्श)।

पदार्थ—निजस्त्रीचटुलालसानां=अपनी स्त्रियोंके चटु (प्रियवचनों)में लोलुप, मदेन=मदसे। किंचित्=कुछ-कुछ। चटुलालसानां=चपल और आलसी। विहङ्गमानां=पक्षियोंके (ऊपर)। उत्पिञ्जलजातपत्रैः=मुड़कर पिंजड़े जैसे हो गये हैं पत्ते जिनके, ऐसे। जलजातपत्रैः=कमलरूप छातोंसे। छायां कुर्वाणम्=छाया करते हुए (पर्वतको देखा)।

सर्वङ्कषा—छायामिति। पुनः निजस्त्रीणां चटुषु=प्रियवचनेषु लालसाः=लोलुपाः। 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि च' इति यादवः। तेषां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चिद्=ईषच्चटुलाश्चपलास्तेऽलसाश्च। विशेषणयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यभावविवक्षया विशेषणसमासः। तेषां चटुलालसानां विहङ्गमानां=हंसादीनामुत्पिञ्जलानि जातान्युत्पिञ्जलजातानि। पूर्ववत् समासः। तानि पत्राणि येषां तैरुत्पिञ्जलजातपत्रैः=

उत्पिञ्जरीभूतदलैरित्यर्थः। रलयोरभेदः। जलजातपत्रैः=जलजैरेवातपत्रैः छायां कुर्वाणम्। एतेन महती कमलाकरसमृद्धिर्व्यज्यते। यमकरूपकयोः सङ्करः ॥६॥

भावार्थ—अपनी प्रियाओंके चाटुकारितापूर्ण वचनोंको सुननेके उत्सुक, मदसे कुछ-कुछ चपल एवं अलसाये हुए पक्षियोंके ऊपर (मुरझानेसे) कुछ पीले पड़े या बिखरे हुए पत्तोंवाले कमलरूप छातोंसे छाया करते हुए (पर्वत को देखा) ॥६॥

स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठानुर्वीरुहः श्लिष्टतनूनहीन्द्रैः।
प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् रुद्राननेकानिव धारयन्तम् ॥७॥

अन्वय :—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान्, अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून्, प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् अनेकान् उर्वीरुहः, रुद्रान् इव धारयन्तम् (गिरिं ददर्श)।

पदार्थ—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकष्ठान्=प्रकाण्डों (तनों) पर चढ़े हैं उज्ज्वल मोर जिनके ऐसे। अहीन्द्रैः=सर्पोंसे। श्लिष्टतनून्=आलिङ्गित देह-वाले। प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान्=नचाया है अनेक भुजारूप लताओंको जिन्होंने, ऐसे। अनेकान् उर्वीरुहः=अनेकों वृक्षोंको (स्कन्धाधि''''नीलकण्ठान्= कन्धे पर आरूढ़ हैं चमकते हुए नीले कण्ठ जिनके, ऐसे। अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून्= शरीरमें साँपोंको लपेटे हुए। प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान्=नचाया है अनेकों लताओंकी तरह भुजाओंके अग्रभागको जिन्होंने, ऐसे। अनेकान्=अनेकों) रुद्रान् इव=रूद्रोंकी भाँति। धारयन्तम्=धारण करते हुए, (पर्वतको देखा)।

सर्वङ्कषा—स्कन्धेति। पुनः स्कन्धं=प्रकाण्डमधिरूढा उज्ज्वला नील-कण्ठाः=मयूरा येषां तान्, अन्यत्र स्कन्धाधिरूढाः=अंसस्थिता नीलाः कण्ठा येषां तान्। 'अंसप्रकाण्डयोः स्कन्धः' इति विश्वः। अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून्= व्याप्तदेहान्। एकत्र तदावासत्वादन्यत्र तद्भूषणत्वाच्चेति भावः। प्रनर्तितान्य-नेकलतानामेव भुजानां लतानामिव च भुजानामग्राणि तेषां तानत एवानन्तान्= असंख्यान् रुद्रानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा। उर्वीरुहः=वृक्षान् धारयन्तम्= उद्वहन्तम् ॥७॥

भावार्थ—जिनके काण्डों (तने) पर चमकते हुए नीलकण्ठ (मयूर) चढ़े हैं ऐसे, तथा साँपोंसे लिपटे हुए, लतारूप भुजाओंको नचाते हुए अनेकों वृक्षोंको, जो पर्वत (कन्धेके ऊपर स्थित नीलेकण्ठोंवाले, साँपोंसे वेष्टित देहवाले, (ताण्डवके समय) लताओंकी भाँति हाथोंको नचाते हुए अनेकों) रुद्रोंकी भाँति धारण किये था, (उसे देखा) ॥७॥

विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः ।
नवोलपालङ्कृतसैकताभाः शुचीरपः शैवलिनीर्दधानम् ॥८॥

अन्वय :—विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः, लोध्रगौरीः कपोलभित्तीः इव नवोलपालङ्कृतसैकताभाः शुचीः शैवलिनीः अपः दधानम्, (गिरिं ददर्श) ।

पदार्थ—विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः=लटकते हुए नीलकमलरूप कर्णफूलोंवाली । लोध्रगौरीः=लोंधके समान गौरवर्णकी । कपोलभित्तीः इव=गण्डपालियोंकी तरह । नवोलपालंकृतसैकताभाः=नये नये वल्वजतृणोंसे शोभित वालूकी सी कान्तिवाले । शुचीः=स्वच्छ । शैवलिनीः=सेवारवाले । अपः=जलोंको । दधानम्=धारण करते हुए (पर्वतको देखा) ।

सर्वङ्कषा—विलम्बीति । विलम्बिनो नीलोत्पलान्येव कर्णपूराः=कर्णावतंसा यासां ताः । लोध्रेण=लोध्ररजसा गौरीः=अवदाताः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च इति ङीष् । कपोलभित्तीः=स्त्रीणां गण्डस्थलीरिव स्थिताः । उपमान्तरमाह—नवा उलपाः=वल्वजतृणानि । 'उलपा वल्वजाः प्रोक्ताः' इति विश्वः । तैरलङ्कृतानां सैकतानामाभेवाभा यासां ताः । कुतः । शुचीः=शुद्धाः शैवलिनीः=शैवलवतीरपो दधानम् । शुचित्वशैवलत्वाभ्यां विम्बप्रतिबिम्बभावेनोपमाद्वयम् ॥८॥

भावार्थ—लटकते हुए नीलकमलरूप कर्णफूलोंवाली, लोध जैसी गोरे वर्णकी (स्त्रियोंकी) गण्डपालियोंकी तरह, नये नये वल्वज घाससे शोभित बालू जैसी, स्वच्छ एवं सेवारवाले जलोंको धारण करते हुए पर्वतको देखा ।

टिप्पणी—"आपः स्त्री भूमि वार्वारि" अमरकोष, आपशब्द नित्य स्त्रीलिंग एव बहुवचन है । उलप—उस घासको कहते हैं जो बालूवाली भूमिपर उगती है ॥८॥

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम् ।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम् ॥९॥

अन्वय :—राजीवराजीवशलोलभृङ्गं, तरूणां ततिभिः, उष्णम्, मुष्णन्तम्, कान्तालकान्ताः सुराणां ललनाः, रक्षोभिः, अक्षोभितम्, उद्वहन्तम् (गिरिं ददर्श) ।

पदार्थ—राजीवराजीवशलोलभृङ्गं=कमलपंक्तियोंके अधीन हैं चञ्चल भौंरे जिसमें । तरूणां ततिभिः=वृक्षोंकी पंक्तियोंसे । उष्णं=आतपको । मुष्णन्तम्=हरते हुए । कान्तालकान्ताः=मनोहर केशाग्रभागोंवाली । सुराणां

ललना:=देवताओंकी प्रियाओं (अप्सराओं)को। रक्षोभि:=राक्षसोंसे। अक्षोभितम्=अनभिभूत (न तिरस्कृतकी हुई सी)। उद्वहन्तम्=धारण किये हुए, (पर्वतको देखा)।

सर्वङ्कषा—राजीवेति। पुनः राजीवराजीनां=पद्मपङ्क्तीनां वशा=अधीना लोला:=चला भृङ्गा:=यस्मिंस्तं राजीवराजीवशलोलभृङ्गं तरूणां ततिभि:=सर्वैरुष्णम्=आतपं मुष्णन्तं=हरन्तं कान्ता=रम्या अलकान्ता:=चूर्णकुन्तलाग्राणि यासां ता: कान्तालकान्ता:। 'अलकाश्चूर्णकुन्तला:' इत्यमर:। सुराणां ललना:=स्त्रियोऽप्सरसो रक्षोभि:=राक्षसैरक्षोभितम्=अनभिभूतं यथा तथोद्वहन्तम् ॥९॥

भावार्थ—कमलपंक्तियोंके वशमें हैं चञ्चल भौंरे जिसमें ऐसे, वृक्षोंके समूहोंसे आतपको हरते हुए तथा सुन्दर जूड़ोंवाली देवाङ्गनाओंको राक्षसोंके भयसे निवृत्त हुई सी धारण करते हुए इस रैवतक पर्वतको श्रीकृष्णने देखा।

टिप्पणी—प्रथम श्लोकमें जो "असौ गिरिं रैवतकं ददर्श" कहा था। उसका अन्वय इस ९ वें श्लोक तक चलता है। इसे कुलक कहते हैं। दो श्लोकोंका एक क्रियामें अन्वय हो तो युग्म, तीनका हो तो विशेषक, चारका हो तो कलापक, पांच या उससे अधिकका एकमें अन्वय हो तो कुलक होता है ॥९॥

मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः ॥१०॥

अन्वयः—मुरारेः मुदे, अमरैः, सुमेरोः शृङ्गैः आनीय, उपचितस्य यस्य, उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः, उद्दामगिरां कवीनां, मृषोद्याः न भवन्ति।

पदार्थ—मुरारेः मुदे=श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये। सुमेरोः शृङ्गैः आनीय=सुमेरुके शिखरोंसे लाकर। उपचितस्य=बढ़ाये हुए। यस्य=जिस (रैवतक)के। उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः=औन्नत्य और सौन्दर्यके गुण। उद्दामगिरां=प्रगल्भ वाणीवाले। कवीनाम्=कवियोंके द्वारा। मृषोद्याः=मिथ्या कहे हुए। न भवन्ति नहीं होते।

सर्वङ्कषा—नन्वल्पीयानयं कश्चिद्रैवतको नाम शिलोच्चयः कथमियद्वर्ण्यत इति शङ्कां निरस्यति-मुद इति। मुरारेर्मुदे=सन्तोषायामरैः कर्तृभिः सुमेरोः शृङ्गैः=करणैरानीयोपचितस्य=वर्धितस्य। आनीतैः शृङ्गैरुपचितस्येत्यर्थः। उपचये करणानां शृङ्गाणामर्थादानयनकर्मत्वम्। यस्य=शैलस्योच्छ्राय:=

औन्नत्यं, सौन्दर्यं च तयोर्गुणाः=उत्कर्षा उद्दामगिरां=प्रगल्भवाचां कवीनां मृषा उद्यन्त इति मृषोद्याः=मिथ्यावाच्या न भवन्ति । मेरुशृङ्गेषु सर्वगुणसम्भवादिति भावः । 'राजसूयसूर्यमृषोद्य–' इत्यादिना वदेः क्यबन्तो निपातः । उत्कृष्टः आय उच्छ्राय इति घञन्तेनोपसर्गस्य समासः । न तूपसृष्टाद्वञ्प्रत्ययः। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति नियमात् । मुद इत्यादिश्लोकसप्तके यच्छब्दस्य दृष्टोऽयं शैलः स इत्यनेनान्वयः । मेरुशृङ्गासम्बन्धेऽपि सम्बन्धवर्णनादतिशयोक्तिः ॥१०॥

भावार्थ—श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिए देवताओंने सुमेरुके शिखरोंको लाकर बढ़ाये हुए जिस रैवतकके औन्नत्य और सौन्दर्य सम्बन्धी गुण प्रगल्भवाणीवाले कवियोंके लिए मिथ्यावचन नहीं होते थे ।

टिप्पणी—देवताओंने सुमेरुके शिखरोंको ला-लाकर रैवतक को इतना ऊँचा कर दिया था कि कवियों द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर किया गया वर्णन भी ठीक ही उतरता था, झूठ नहीं होता था । यहाँ शृङ्गैः इस तृतीयान्त पाठका आनीयके साथ कैसे अन्वय हुआ यह माघ ही जानें जबकि द्वितीयान्त पाठ करनेमें छन्दोभङ्ग भी नहीं होता और अर्थ करनेमें भी आसानी होती है ॥१०॥

यतः परार्ध्यानि भृतान्यनूनैः प्रस्थैर्मुहुर्भूरिभिरुच्छिखानि ।
आढ्यादिव प्रापणिकादजस्रं जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः ॥११॥

अन्वयः—लोकः, परार्ध्यानि, अनूनैः भूरिभिः प्रस्थैः भृतानि, उच्छिखानि, अमितानि रत्नानि, आढ्यात् प्रापणिकात् इव, यतः अजस्रं मुहुः जग्राह ।

पदार्थ—लोकः=लोग । परार्ध्यानि=बहुमूल्य । अनूनैः=बड़े-बड़े । भूरिभिः=बहुतसे । प्रस्थैः=शिखरोंसे (और भूरिभिः=बहुतसे । प्रस्थैः=पसेरी नामक नापनेके पात्रविशेषसे) । भृतानि=धारण किये गये (और प्रस्थोंसे भरे गये) उच्छिखानि=ऊपरको उठती हुई किरणोंवाले । अमितानि=अपरिमित । रत्नानि=रत्नोंको । यतः=जिस (पर्वत)से । आढ्याद्=धनिकसे । प्रापणिक इव=बनियाँ जैसे । अजस्रम्=निरन्तर । मुहुः जग्राह=बारबार लेते थे ।

सर्वङ्कषा—यत इति । लोकः परार्ध्यानि=श्रेष्ठानि, अनूनैः=महद्भिः, भूरिभिः=प्रभूतैः । 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यं भूरि' इत्यमरः । प्रस्थैः=सानुभिर्मानविशेषैश्च । 'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः । भृतानि=सम्भृतानि मितानि च उच्छिखान्युद्गरश्मीनि अमितानि=अपरिमितानि रत्नानि यतः=शैलादाढ्यात् =धनिकात् । 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमरः । प्रपणो व्यवहारः प्रयोजनमस्य प्रापणिको=वणिक् । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । 'पण्याजीवाः प्रापणिका

वैदेहा नैगमाश्च ते । वणिजः' इति वैजयन्ती । तस्मादिवाजस्रं=मुहुर्जग्राह । उपमालङ्कारः ॥११॥

भावार्थ—जैसे बनिये किसी जौहरीके यहाँ से पसेरीसे भर-भरकर बार-बार ले रहे हों इसी प्रकार लोग जिस पर्वतसे बड़े-बड़े शिखरोंपर धारण किये हुए, ऊपरको उठती किरणोंवाले, बहुमूल्य असंख्य रत्नोंको बार-बार ले जाते थे ।

टिप्पणी—प्रस्थ—यह पर्वतकी चोटी और एक परिमाण विशेषका वाचक है । प्राचीनकालमें काठके ऐसे पात्र बने होते थे जिनमें नियत परिमाण-का द्रव्य (धान्यादि) अमाता था और उसीसे भरकर दिया—लिया जाता था । आज भी नेपाल तथा कुमाऊँमें ये पात्र प्रचलित हैं । इनके परिमाणके अनुसार भिन्न-भिन्न नाम होते हैं । जैसे १२ मुट्ठी (लगभग १० छटांक)का एक माना या बैकर होता है । ४ माना (लगभग २॥ सेर)की एक नाली (द्रोण ?) होती है । २नालीकी एक पसेरी (प्रस्थ ?) होती है । ग्रामीण लोग धान्यादिका लेन-देन इन्हींसे करते हैं । इनसे नापनेकी प्रक्रिया भरना कहलाती है । यहाँ भी कविका भृतानि प्रयोग इसकी पुष्टि करता है । कविका अभिप्राय है कि रैवतकमें रत्नोंकी मात्रा इतनी प्रचुर थी कि तौलनेकी झंझट कौन करे, पसेरीसे भर-भरकर लोग ले जाते थे ॥११॥

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने ।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता ॥१२॥

अन्वयः—आसन्नम्, उदग्रतापं, रविं, दधाने, अपि अरविन्दधाने, यस्य-तटे, निपीतरसा, नमत्तामरसा, मत्ता, भृङ्गावलिः, न अखिद्यत ।

पदार्थ—आसन्नम्=समीपवर्ती । उदग्रतापं=प्रचण्डतापवाले । रविं=सूर्य-को । दधाने अपि=धारण करते हुए भी । अरविन्दधाने=कमलोंके निधान (आकर) । यस्य गिरेः तटे=जिस पर्वतके किनारे । निपीतरसा=रसको पी हुई । नमत्तामरसा=तामरसों (कमलों)को झुकाती हुई । मत्ता=उन्मत्त । भृङ्गावलिः=भौंरोंकी पंक्ति । न अखिद्यत=खेद=(दुःख)को नहीं प्राप्त होती थी ।

सर्वङ्कषा—अखिद्यतेति । आसन्नमौन्नत्यात् सन्निहितमत एवोदग्रतापं =दुःसहातपं रविं दधानेऽपि, अरविन्दधान इति विरोधः । अरविन्दानां धाने= निधाने इति परिहारः । धीयतेऽस्मिन्निति धानम् । अधिकरणे ल्युट् । शब्दश्लेष-मूलो विरोधालङ्कारः । यस्य=गिरेस्तटे निपीतरसा=नितरां पीतमकरन्दा नमन्ति

तामरसानि=पङ्केरुहाणि भारभूतया यया सा नमत्तामरसा। 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः। अतएव मत्ता भृङ्गावलिर्नाखिद्यत=न खिन्ना। खिदेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ्। अत्यन्तसूर्यसन्निधानेऽप्यरविन्दाकरविहारान्मधुकरास्तापं नापुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

भावार्थ—यद्यपि प्रचण्ड आतपवाला सूर्य इस पर्वतके अत्यन्त निकट था फिर भी कमलोंसे भरे इसके तटोंपर मकरन्दका पान करती हुई तथा अपने भार से कमलोंको झुकाती हुई भ्रमरपंक्ति किसी प्रकार खिन्न नहीं होती थी।

टिप्पणी—यहाँ रविंदधानेऽपि अरविन्दधाने कहनेमें विरोधसा प्रतीत होता है किन्तु अरविन्द-धाने यह अर्थ करनेपर उसका परिहार हो जाता है। प्रचण्ड सूर्य अत्यन्त समीप होनेपर भी भौंरोंको उसका सन्ताप नहीं था, यह भाव है ॥ १२ ॥

यत्राधिरूढेन महीरुहोच्चैरुन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा।
सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः ॥१३॥

अन्वयः—यत्र, राजतगण्डशैलः, उन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा अधिरूढेन उच्चैः महीरुहा, सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां, दधौ।

पदार्थ—यत्र=जिस (रैवतक) में। राजतगण्डशैलः=रुपहली चट्टान। उन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा=विकसित फूल रूप हजारों आँखोंवाले। अधिरूढेन=आरूढ़ हुए। उच्चैः=ऊँचे। महीरुहा=वृक्षसे। सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां=इन्द्र जिसपर आरूढ़ हों, ऐसे ऐरावतकी शोभाको। दधौ=धारण करता था।

सर्वङ्कषा—यत्रेति। यत्र=शैले रजतस्य विकारो राजतः। 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' इत्यञ्प्रत्ययः। स चासौ गण्डशैलश्च। 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः। उन्निद्राणि=विकसितानि पुष्पाण्यक्षीणीवेत्युपमितसमासः। तेषां सहस्रं भजतीति तद्भाजा=अधिरूढेनोच्चैर्महीरुहा=वृक्षेण सुराधिपेन=देवेन्द्रेणाधिष्ठितो यो हस्ती मल्ल इव तस्य=ऐरावतस्य लीलां=शोभां दधौ। ऐरावतस्य धावल्यादिति भावः। 'हस्तिमल्लोऽभ्रमातङ्गे हस्तिमल्लो विनायके' इति विश्वः। अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ १३ ॥

भावार्थ—पर्वतसे गिरे हुए रुपहले चट्टानपर उगा हुआ तथा हजारों आँखों जैसे खिले हुए फूलोंवाला ऊँचा वृक्ष जिस पर्वतपर श्वेत रंगके विशाल हाथी (ऐरावत) पर आरूढ़ सहस्राक्ष इन्द्रकी शोभाको धारण कर रहा था।

टिप्पणी—गरुडशैल—पर्वतसे खिसककर गिराहुआ विशाल भाग गरुड-शैल कहलाता है। उसपर उगे हुए वृक्षकी ऐरावत हाथीपर चढ़े इन्द्रसे उपमा दी गई है। इन्द्र सहस्राक्ष हैं वृक्षपर खिले हुए हजारों फूल आँखों जैसे दीख रहे हैं। ऐरावत सफेद है इसलिए राजत (चांदीका—रुपहला) विशेषण दिया है ॥ १३ ॥

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥१४॥

अन्वयः—गरुड़ाग्रजेन, विभिन्नवर्णाः, सूर्यस्य रथ्याः, यत्र, वंशकरीरनीलैः रत्नैः, परितः स्फुरन्त्या, रुचा, पुनः स्वां रुचम्, आनिन्यिरे।

पदार्थ—गरुड़ाग्रजेन=अरुणके द्वारा। विभिन्नवर्णा=जिनका वर्ण (रंग) भिन्न कर दिया गया है, ऐसे। सूर्यस्य रथ्याः=सूर्यके घोड़े। यत्र=जिस (रैवतक) पर। वंशकरीरनीलैः=बाँसके अँखुओं जैसे नीले। रत्नैः=रत्नों (मरकतों) द्वारा। परितः स्फुरन्त्या=चारों ओर चमकती हुई। रुचा= दीप्तिसे। पुनः=फिर। स्वां रुचं=अपनी स्वाभाविक कान्तिमें। आनिन्यिरे= लाये जाते थे।

सर्वङ्कषा—विभिन्नेति। गरुड़ाग्रजेन=अरुणेन विभिन्नवर्णा=अन्यथा-कृतवर्णाः। अरुणिमानमापादिता इत्यर्थः। सूर्यस्य सम्बन्धिनो रथं वहन्तीति रथ्याः=रथाश्वाः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यत्प्रत्ययः। यत्र=शैले वंशकरीरनीलैः=वंशाङ्कुरश्यामै रत्नैः=मरकतैरित्यर्थः। 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः। वंशशब्दस्याम्लानताहेतोरलूनतायाः प्रतिपत्त्यर्थत्वादपौनरुक्त्यम्। अत एवैकार्थपदमप्रयोज्यमित्युक्त्वा करिकलभकर्णावतंसादिषु प्रतिपत्तिविशेषकरेषु न दोष इत्याह वामनः। न विशेषश्चेदिति। परितः स्फुरन्त्या रुचा=स्वप्रभया करणेन, पुनः स्वां रुचं=निजहरितवर्णमेवानिन्यिरे=आनीताः। नयतेर्द्विकर्म-कात्प्रधाने कर्मणि लिट्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वच-नात्। अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः। रथ्यानां स्वगुणत्यागेन गरुडाग्रजगुणा-त्पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुणग्रहणादपरस्तद्गुणस्तदुपजीवीति सजातीययोः सङ्करः। तेन गिरेः सूर्यमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं वस्तु व्यज्यते। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यो-त्कृष्टगुणग्रहः' ॥१४॥

भावार्थ—(सूर्यके सारथि) अरुणकी लालिमासे सूर्यके रथमें जुते श्याम घोड़े लाल वर्णके प्रतीत होते थे किन्तु जब रथ रैवतकपर्वतके ऊपर

आया तो वहाँके बांसके अँखुओं जैसे साँवले मरकत मणियोंकी चारों ओर फैलती हुई प्रखरकान्तिसे वे पुनः साँवले दीखने लगे।

टिप्पणी—गरुड़ाग्रज—कश्यपकी विनता नामक पत्नीसे दो पुत्र हुए अरुण और गरुड़। ये दोनों अण्डज हैं। अरुण जिस अण्डेसे हुए वह अपरिपक्व अवस्थामें ही फूट गया इसलिये उनका ऊपरका अंग तो पूर्ण हुआ किन्तु नीचे का नहीं, अतः वे अनूरू (जंघारहित) हैं और सूर्यके सारथिरूपमें विख्यात हैं, इनका लाल रंग प्रसिद्ध है।

यह श्लोक तद्गुण अलङ्कारका उत्कृष्ट उदाहरण है, ऐसा प्रायः सभी लक्षण ग्रन्थकारोंने स्वीकार किया है। अपने गुणको छोड़कर उससे उत्कृष्ट गुणको ग्रहण कर लेना तद्गुण कहा जाता है। यहाँ पहिले श्याम घोड़ोंने अपनी स्वाभाविक श्यामताको छोड़कर अरुणकी अरुणिमाको ग्रहण किया यह एक तद्गुण है। फिर रैवतकपर आने पर रत्नोंकी प्रखर दीप्तिसे अरुणिमाको छोड़कर पुनः श्यामलता ग्रहण की, इस प्रकार दो तद्गुणोंकी संकीर्णता है ॥१४॥

यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥१५॥

अन्वयः—यत्र, समुन्नमद्भिः, अम्बुवाहैः, उज्झिताभिः, अद्भिः, मुहुः, समुन्नम्, अविपन्नगानाम्, नगानाम्, वनम्, विषपावकोत्था, विपत्, न बबाधे।

पदार्थ—यत्र=जिस (रैवतक) में। समुन्नमद्भिः=ऊँचे उठते हुए। अम्बुवाहैः=मेघोंसे। उज्झिताभिः=छोड़े हुए। अद्भिः=जलोंसे। मुहुः=बार-बार। समुन्नम्=भिगाये हुये। अविपन्नगानाम्=जो सर्पोंसे रहित नहीं हैं ऐसे। नगानां=वृक्षोंके। वनं=वनको। विषपावकोत्था=विषाग्निसे उठी हुई। विपत्=आपत्ति। न बबाधे=बाधित नहीं करती थी।

सर्वङ्कषा—यत्रेति। यत्र=शैले समुन्नमद्भिः=समुत्पतद्भिः अम्बुवाहैः उज्झिताभिः=त्यक्ताभिरद्भिर्मुहुः समुन्नं=सम्यगुन्नं क्लिन्नम्। सिक्तमित्यर्थः। 'उन्दी क्लेदने' इति धातोः कर्मणि क्तः। 'नुदविद—' इत्यादिना निष्ठानत्वम्। विपन्नगाः=विगतसर्पा न भवन्तीत्यविपन्नगाः=सपन्नगा इत्यर्थः। तेषामविपन्नगानां नगानां=वृक्षाणां वनं विषपावकोत्था=विषाग्निसमुत्था विपत्=आपत् न बबाधे। नित्यं वर्षानुसङ्गाद्विषाग्निक्षोभो वृक्षाणामकिञ्चित्कर इति भावः ॥१५॥

भावार्थ—जिस रैवतकपर उमड़ते हुए बादलों द्वारा बरसाये जलसे सींचे गये और सर्पोंसे युक्त वृक्षोंके वनको विषाग्निजन्य आपत्ति कष्ट नहीं दे पाती थी।

टिप्पणी—यहाँ "विपन्नगानामविपन्नगानाम्" इस विरोधकी प्रतीतिके लिये "अविपन्नगानाम्—विगताः पन्नगा; येभ्यस्ते विपन्नगाः, विपन्नगाः न भवन्तीति अविपन्नगाः तेषाम्" इतनी क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। शाब्दिक चमत्कारके लिये अर्थका गला घोंटना माघका स्वभाव है ॥१५॥

फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः।
शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥१६॥

अन्वय :—यः, उष्णांशुकराभिमर्शात्, कार्शानवं धाम, फलद्भिः, पतङ्गकान्तैः, गुणानां, संक्रान्तिम्, पात्रगुणात्, आक्रान्तगुणातिरेकाम्, शशंस।

पदार्थ—यः=जो पर्वत। उष्णांशुकराभिमर्शात्=सूर्य किरणोंके संपर्कसे। कार्शानवं धाम=आग्नेय तेजको। फलद्भिः=उगलते हुए। पतङ्गकान्तैः=सूर्यकान्त मणियोंसे। गुणानां संक्रान्ति=गुणोंके संक्रमणको। पात्रगुणात्=आधारके गुणसे। आक्रान्तगुणातिरेकाम्=अधिक उत्कर्षको प्राप्त हुए, शशंस=कह रहा था।

सर्वङ्कषा—फलद्भिरिति। यः=शैल उष्णांशुकराभिमर्शाद्=अर्ककरसम्पर्कात् कृशानोरिदं कार्शानवम्=आग्नेयं धाम=तेजः फलद्भिः=उद्गिरद्भिः। अग्निकरसामर्थ्याभिव्यञ्जकैरिति भावः। पतङ्गकान्तैः=सूर्यकान्तैः। दृष्टान्तभूतैरिति भावः। गुणानां संक्रान्तिम्=अन्यत्र संक्रमणम्। संक्रान्तगुणानित्यर्थः। पात्रगुणात् आधारगुणसहकारादाक्रान्तः प्राप्तो गुणातिरेकः कार्यविशेषाधानरूपो गुणोत्कर्षो यस्यास्तां शशंस प्रतिपादयामास। अर्कत्विषां सर्वत्र संक्रमणाविशेषेऽपि सूर्यकान्तेष्वेव ज्वलनजननदर्शनात् सर्वत्रापि संक्रमणकारिणां गुणानामाधारगुणसहकारात् कार्यविशेषाधायकत्वमिति निश्चयोऽत्रैव जायत इत्यर्थः। ततश्च सहकारशक्तिविरहिणी सहजशक्तिरनुपकारिणीति भावः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥१६॥

भावार्थ—जो रैवतक पर्वत, सूर्य किरणोंके संपर्कसे आग उगलते हुए सूर्यकान्तमणियों द्वारा "गुणोंका संक्रमण उचित आधारका संसर्ग होनेपर अधिक उत्कर्षको प्राप्त होता है" यह कह रहा था।

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥१७॥

अन्वय :—मुहः दृष्टः अपि स शैलः, मुरारेः, अपूर्ववत्, विस्मयम्, आततान, यत् क्षणे क्षणे नवताम् उपैति, तदेव, रमणीयतायाः रूपम् ।

पदार्थ—मुहुः=बार-बार । दृष्टः अपि=देखा हुआ भी । स शैलः=वह पर्वत । मुरारेः=श्रीकृष्णके । अपूर्ववत्=पहिले न देखे हुए की तरह । विस्मयम्=आश्चर्यको । आततान=बढ़ा रहा था । यत्=जो । क्षणे क्षणे=क्षण क्षणमें । नवताम् उपैति=नवीनताको प्राप्त होता है । तदेव=वही । रमणीयतायाः रूपम्=रमणीयताका स्वरूप है ।

सर्वङ्कषा—दृष्टोऽपीति । मुहुर्दृष्टोऽपि स शैलो मुरारेरपूर्वेण दृष्टपूर्वेण तुल्यमपूर्ववत् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेत्–' इति वतिः । विस्मयमाततान । अतिरमणीयत्वादिति भावः । तथा हि—क्षणे क्षणे प्रतिक्षणम् । वीप्सायां द्विर्भावः । नवताम् अपूर्ववद्भावमुपैतीति यत्, तत्=नवत्वोपगमनमेव रमणीयताया रूपं=स्वरूपम् । लक्षणमित्यर्थः । अत्र रमणीयत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विस्मये हेतुत्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥१७॥

भावार्थ—यद्यपि श्रीकृष्ण बार-बार उस रैवतकको देख चुके थे किन्तु फिर भी आज वह कभी न देखा हुआ सा आश्चर्यजनक प्रतीत हो रहा था, रमणीयताका यही स्वरूप है अर्थात् रमणीय उसे ही कहा जाता है जो प्रतिक्षण नया सा प्रतीत हो ।

टिप्पणी—माघ निर्मित रमणीयताका यह स्वरूप साहित्यिक जगत्में पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ है ॥ १७ ॥

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम् ।
उत्कन्धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कंधरं दारुक इत्युवाच ॥१८॥

अन्वय :—अथ, गिराम्, उच्चारणज्ञः, दारुकः, उच्चारणत्पक्षिगणाः तटीः दधानं, तम्, धरं द्रष्टुम् उत्कम्, (अत एव) उत्कन्धरं, शौरिम् अवेक्ष्य, इत्युवाच ।

पदार्थ—अथ=इसके बाद । गिराम्=वाणियोंके । उच्चारणज्ञः=उच्चारणको जाननेवाला । दारुकः=(श्रीकृष्णका) सारथी । उच्चारणत्पक्षिगणाः=ऊंचे स्वरमें गूंज रहे हैं पक्षिसमूह जिनमें ऐसी । तटीः=तलहटियोंको । दधानं=धारण करते हुए । तं धरं द्रष्टुं=उस पर्वत को देखनेके लिये । उत्कं=

उत्कण्ठित। (अतएव) उत्कन्धरं=ऊपरको गर्दन उठाये हुए। शौरिम्=श्रीकृष्णको। अवेक्ष्य=देखकर। इति=इस प्रकार। उवाच=बोला।

सर्वङ्कषा–उच्चारणज्ञ इति। अथ=हरिविस्मयानन्तरं गिरां=वाक्यानामुच्चारणं जानातीत्युच्चारणज्ञः=उक्तिकुशलः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। न 'इगुपध–' इत्यादिना 'आकारादनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वचनात्। दारुकः=कृष्णसारथिरुच्चाः=उन्नता रणन्तः=शब्दायमानाः पक्षिगणाः यासु ता रणत्पक्षिगणास्तटीर्दधानं तं=पूर्वोक्तम्। धारयतीति धरं=पर्वतम्। पचाद्यच्। 'अहार्यधरपर्वताः' इत्यमरः। द्रष्टुम् उत्कम्=उत्सुकम्। 'उत्क उन्मनाः' इति निपातः। उत्कन्धरम्=औत्सुक्यादुन्नमितकन्धरं शौरिमवेक्ष्य इति=वक्ष्यमाणक्रमेण वाचम् उवाच। न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदतीति भावः॥१८॥

भावार्थ—अवसरके अनुरूप बोलनेमें कुशल दारुकने, ऊंचे स्वरसे कूजते हुए पक्षियोंवाली तलहटियोंको धारण करते हुए रैवतक पर्वतको देखनेके लिए गर्दन उठाकर उत्कण्ठित हुए श्रीकृष्णको देखकर कहा॥१८॥

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्॥१९॥

अन्वय :—आच्छादितायतदिगम्बरम्, उच्चकैः, गाम्, आक्रम्य, संस्थितम्, उदग्रविशालशृङ्गम्, मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम्, एनं, नगेशम्, उद्वीक्ष्य, भुवि, कः न विस्मयते।

पदार्थ—आच्छादितायतदिगम्बरम्=ढक दिया है दीर्घ दिशाओं तथा आकाशको जिसने ऐसे। उच्चकैः=अत्यन्त (भागमें)। गाम्=पृथ्वीको। आक्रम्य स्थितम्=व्याप्त होकर स्थित हुए। उदग्रविशालशृङ्गम्=ऊँचे और विशाल शिखरोंवाले। मूर्ध्नि=मस्तकपर। स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम्=चमक रही हैं चन्द्रमाकी किरणें जिसके, ऐसे। एनं नगेशं=इस पर्वतराजको। उद्वीक्ष्य=देखकर। भुवि=पृथ्वीमें। कः न विस्मयते=किसे आश्चर्य न होगा।

सर्वङ्कषा—इतः प्रभृति यमकानन्तरश्लोकेषु वसन्ततिलकावृत्तं नियमेनाह—आच्छादितेति। आच्छादितानि=आवृतानि आयतानि=दीर्घाणि दिशोऽम्बरं खं च दिगम्बराणि येन तम्, अन्यत्राच्छादितं=वसितमायतं दिगे-

याम्बरं=वासो येन तं तथोक्तम् । उच्चकैः=उन्नतां गां=भुवमाक्रम्य=व्याप्य संस्थितम् । तथोदग्राणि=उन्नतानि विशालानि च शृङ्गाणि=शिखराणि यस्य तम् । अन्यत्रोदग्रे=विशाले शृङ्गे=विषाणे यस्य तं उच्चकैः=उन्नतं गां वृषभमाक्रम्य अधिष्ठाय संस्थितमित्यर्थः । 'शृङ्गं विषाणे शिखरे' इति, 'गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ व्रजे चन्द्रमसि स्मृतः । अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता ।' इति च विश्वः । मूर्ध्नि=शिखरे । अन्यत्र शिरसि स्फुरन्ती तुहिनदीधितेः=इन्दोः कोटिः=रश्मिः, कला च यस्य तमेनं नगेशं=नगश्रेष्ठं रैवतकं कैलासनायकमीश्वरं च उद्वीक्ष्य को न विस्मयते । सर्वोऽपि विस्मयत इत्यर्थः । नेयं तुल्ययोगिता, प्रकृताप्रकृतविषये तदनुत्थानात् । नापि समासोक्तिः, तस्या विशेषणसाम्यजीवितत्वात् । नापि श्लेषः, उभयश्लेषे विशेष्यश्लेषयोगात् । तस्मात्प्राकरणिकार्थमात्रपर्यवसिताभिधाव्यापारेणापि शब्देनार्थान्तरधीकृद्ध्वनिरित्याहुः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे-'अनेकार्थकस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ।' इति । वृत्तलक्षणं तु—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ॥१६॥

भावार्थ—लम्बी दिशाओं तथा आकाशको ढकते हुए, पृथ्वीके बहुत बड़े भागमें फैले हुए, ऊँची-ऊँची विशाल चोटियोंवाले तथा जिसके मस्तकमें चन्द्रकिरणें चमक रही हैं ऐसे इस पर्वतराजको देखकर पृथ्वीमें किसे आश्चर्य नहीं होता ?

टिप्पणी—इसमें नगेशको द्व्यर्थक मानकर टीकाकारोंने प्रत्येक विशेषणका शिवके पक्षमें भी अर्थ किया है जो इस प्रकार है—

आच्छादितायतदिगम्बरं=आच्छादित किया है (लपेट लिया है) दीर्घ दिशाएँ रूप वस्त्र जिन्होंने ऐसे । उदग्रविशालशृङ्गम्=ऊँचे और विशाल सींगोंवाले । गाम्=वृषभपर । आक्रम्यस्थितम्=आरूढ़ हुए । मूर्ध्निस्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम्=मस्तकपर चमक रही है चन्द्रमाकी कला जिनके ऐसे । नगेशं शिवजीको । भुवि=पृथ्वीपर । उद्वीक्ष्य=देखकर । को न विस्मयते=किसे आश्चर्य न होगा ।

कविका अभिप्राय यह हो सकता है कि उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त शिवजी यदि पृथ्वीपर दीखें तो किसीको भी आश्चर्य होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त इस पर्वतको देखकर भी किसे आश्चर्य न होगा । किन्तु कविकी शब्दावली ऐसी है (जैसा कि मल्लिनाथने टीकामें स्पष्ट किया है) कि यहाँ न तुल्ययोगिता बन पाई, न समासोक्ति और न श्लेष । केवल

'इन शब्दोंको पढ़नेपर इनका ऐसा अर्थान्तर भी हो सकता है" यह बुद्धि मात्र होनेसे सामान्य ध्वनि रह जाती है।

यह वसन्ततिलका छन्द है—इसके प्रत्येक पदमें त भ ज ज गण तथा २ गुरु ऽऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ। ऽऽ होते हैं ॥१९॥

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

अन्वय :—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ, अहिमरुचौ, उदयति, (विततोर्ध्वरश्मि-रज्जौ) हिमधाम्नि च अस्तं याति, अयं गिरिः, विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारित-वारणेन्द्रलीलाम्, वहति ।

पदार्थ— विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ=लम्बी तथा ऊपरको रस्सी जैसी फैली हुई किरणोंवाले । अहिमरुचौ=सूर्यके । उदयति=उदय होनेपर । च=तथा (विततो-र्ध्वरश्मिरज्जौ=लम्बी तथा ऊपरकी ओर रस्सीकी भाँति फैली हुई किरणों-वाले) हिमधाम्नि=चन्द्रमाके । अस्तं याति=अस्त होनेपर । अयं गिरिः=यह पर्वत । विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारित=लटकती हुई दो घण्टियोंसे वेष्टित, वार-णेन्द्रलीलाम्=गजराजकी शोभाको । वहति=धारण करता है ।

सर्वङ्कषा—उदयतीति । वितता ऊर्ध्वाश्च रश्मिरज्जवो=रश्मयो रज्जव इव यस्य तस्मिन् विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ अहिमरुचौ=सूर्य उदयति= उदयमाने । 'अत गतौ' इति स्वरितेतं केचिदिच्छन्ति । ततः शतरि सप्तमी । तथा विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ हिमधाम्नि=चन्द्रे चास्तं याति=अस्तमयमाने । यातेः शतरि सप्तमी । अयं गिरिर्विलम्बिना=विशेषं लम्बमानेन घण्टाद्वयेन परिवारितस्य=वेष्टितस्य वारणेन्द्रस्य लीलां=शोभां वहति । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना । तथा सूर्यचन्द्रमसावस्य कुक्षिसमानकक्षां बिभ्रत इति महदौन्नत्यं व्यज्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥२०॥

भावार्थ—लम्बी तथा ऊपरकी ओर रस्सी सी फैलती हुई किरणोंवाले सूर्यके उदय होने तथा ऐसे ही चन्द्रमाके अस्त होनेपर यह पर्वत, गलेमें नीचेको लटकती हुई दो घण्टियोंसे वेष्टित गजराजकी जैसी शोभाको धारण करता है ॥२०॥

टिप्पणी—अर्थात् यह पर्वत इतना ऊँचा है कि प्रातःकाल जब एकओर सूर्य उदय होता है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होता है, दोनोंकी ऊपरको

उठी हुई किरणें रस्सी जैसी दिखाई देती हैं तब इसकी उस हाथीकी जैसी शोभा हो जाती है जिसके गले में दोनों ओर दो घण्टियाँ लटक रही हों।

यह पुष्पिताग्रा छन्द है। इसके विषमचरणोंमें दो नगण, रगण और यगण ।।। ।।। ऽ।ऽ ।ऽऽ और समचरणोंमें नगण, जगण, जगण रगण और गुरु ।।। ।ऽ। ।ऽ। ऽ।ऽ ऽ होते हैं।

गजराजकी शोभाको तो गजराज ही धारण करेगा पर्वत नहीं, अतः शोभा जैसी शोभाको धारण करता है, ऐसा सादृश्यका आक्षेप करनेसे निदर्शना अलंकार है ॥२०॥

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः ॥२१॥

अन्वय :—लसमाननवांशुकः, यः, सहरिताः कनकस्थलीः, बिभ्रति, स एष अचलः, हरितालसमाननवांशुकः भवान् इव राजते।

पदार्थ—लसमाननवांशुकः=दीप्यमान नये वस्त्रोंवाला सा। यः=जो। सहरिताः=दूबसे युक्त। कनकस्थलीः=सुनहरी भूमियोंको। वहति=धारण करता है। स एष अचलः वह यह पर्वत। हरितालसमाननवांशुकः=हरितालके समान (पीले) नये वस्त्रोंवाले। भवान् इव=आपकी तरह। राजते=शोभित हो रहा है।

सर्वङ्कषा वहतीति। लसमाना=दीप्यमाना नवांशवो यस्य स लसमाननवांशुकः। शेषिकः कप्प्रत्ययः। योऽचलः सहरिताः=सदूर्वाः। 'हरितेति च दूर्वायां हरिद्वर्णयुतेऽन्यवत्' इति विश्वः। कनकस्य स्थलीः स्वर्णभूमीः। 'जानपद–' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् परितो वहति स एषोऽचलः हरितालेन=कर्चूरेण समानं नवमंशुकं वासो यस्य स हरितालसमाननवांशुकः पीताम्बरो भवानिव राजते। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥२१॥

भावार्थ—हरी हरी दूबसे भरी सुनहरी घाटियोंको धारण करता हुआ यह रैवतक हरिताल जैसे वस्त्रोंवाले आप जैसा लग रहा है।

टिप्पणी—भगवान् श्यामलवर्णवाले और पीताम्बर हैं पर्वतकी घाटियाँ भी हरी हरी दूब से भरी तथा सुनहरी हैं इसलिए कवि, दारुकके द्वारा श्रीकृष्णसे ही पर्वतकी उपमा दिला रहा है।

यह द्रुतविलम्बित छन्द है। इसके प्रत्येक चरणमें नगण दो भगण और रगण ।।। ऽ।। ऽ।। ऽ।ऽ होते है ॥२१॥

पाश्चात्त्यभागमिह सानुषु सन्निषण्णाः
पश्यन्ति शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम्।
सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमान-
मुत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः ॥२२॥

अन्वयः—इह, सानुषु सन्निषण्णाः, (जनाः) शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम्, संपूर्णलब्धललनालपनोपमानम्, उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य, शशाङ्कमूर्तेः, पाश्चात्त्य-भागम्, पश्यन्ति ।

पदार्थ—इह = इस पर्वतपर । सानुषु=चोटियोंमें । सन्निषण्णाः=बैठे हुए (लोग) । शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम्=शान्तमल (कलङ्करहित) होनेसे अत्यन्त घनी किरणोंवाले । संपूर्ण लब्धललनालपनोपमानम्=पूर्ण रूपसे प्राप्तकी है अङ्गनाओंके मुखकी उपमा जिसने, ऐसे । उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य=गोदमें हरिण-को लिये हुए । मृगाङ्कमूर्तेः=चन्द्रमाके । पाश्चात्त्यभागम्=पिछले भागको । पश्यन्ति = देखते हैं ।

सर्वङ्कषा—पाश्चात्त्येति । इह=अद्रौ सानुषु सन्निषण्णाः = स्थिता जनाः शान्तमलं=कलङ्कस्य पुरोवर्तित्वान्निष्कलङ्कमत एव सान्द्रतरमंशुजालं यस्य तं सम्पूर्णं = परिपूर्णं लब्धं=प्राप्तं ललनालपनोपमानं=स्त्रीमुखसादृश्यं येन तम् । 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । कुतः । उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य= अङ्कस्थमृगस्य मृगाङ्का = मृगचिह्ना मूर्तिर्यस्य तस्य मृगाङ्कमूर्तेः=चन्द्रस्य पाश्चात्त्यभागं=पृष्ठभागं पश्यन्ति । पाश्चात्त्यभागदर्शनातिशयोक्त्या तादृगौन्नत्य-ध्वनिः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २२ ॥

भावार्थ—इस पर्वतकी चोटियोंपर बैठेहुए लोग चन्द्रमाके उस पिछले भागको देख पाते हैं जो कलङ्करहित होनेसे अत्यन्त घनी किरणोंको फैला रहा है और निर्मल होनेसे ललनाओंके मुखके साथ जिसकी पूर्ण उपमा दी जा सकती है ।

टिप्पणी—जिस हरिणके कारण चन्द्रमापर कलङ्कका आरोप किया जाता है वह तो उसके उत्सङ्ग (गोद) में रहता है जो आगेके भागमें पड़ता है । इसलिये पिछले भागको देखनेवाले उसे निष्कलङ्क होनेसे अत्यन्त घनी किरणें फैलाता हुआ तथा ललनाओंके मुखके साथ जिसकी पूर्ण उपमा दी जा सके, ऐसा देखते थे । पर्वतके शिखरोंकी अत्यधिक ऊँचाई इससे व्यक्त होती है । यह भी वसन्ततिलका छन्द है । लक्षण देखें श्लोक १९ ॥ २२ ॥

कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यो मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र ॥२३॥

अन्वयः—अत्र, निर्झरौघाः, उच्चैः भृगुभ्यः, पुंवत् पातं कृत्वा, ग्राव्णां मूर्ध्नि, जर्जराः, (सन्तः) द्याम् उत्पतन्तः, स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणम्, कुर्वन्ति।

पदार्थ—अत्र=इस पर्वत पर। निर्झरौघाः=झरनोंके समूह। उच्चैर्भृगुभ्यः=ऊँचे पखानों से। पुंवत्पातं कृत्वा=पुरुषकी तरह गिरकर। ग्राव्णां-मूर्ध्नि=शिलाओंकेऊपर। जर्जराः सन्तः=टुकड़े-टुकड़े होकर। द्यामुत्पतन्तः=आकाश में उछलते हुए। स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणम्=कामातुर देवाङ्गनाओंके शरीरके तापकी शान्ति। कुर्वन्ति=करते हैं।

सर्वङ्कषा—कृत्वेति। अत्र=अद्रौ निर्झरौघाः=गिरिनदप्रवाहाः। 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः। चूतवृक्ष इत्यादिवत्सामान्यविशेषभावादपुनरुक्तिः। पुंवत्=पुंभिस्तुल्यम्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेत्—' इति वतिः। उच्चैर्भृगुभ्यो=प्रतटेभ्यः। 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः। ग्राव्णां=शिलानां मूर्ध्नि पातं कृत्वा=पतित्वा जर्जराः=शकलीभूता द्याम्=आकाशं प्रत्युत्पतन्तः स्मरार्तानां स्वर्लोकस्त्रीणां=खेचरीणामप्सरसां गात्रनिर्वाणम्=अङ्गनिर्वृत्ति कुर्वन्ति। 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते॥' इति विहितभृगुपातिनां पुंसां स्वर्लोकगामिनामिहोपमानता। शालिनी वृत्तम्। 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति॥ २३॥

भावार्थ—इस रैवतकपर ऊँचे-ऊँचे पखानोंसे पुरुषकी भांति गिरते हुए झरने नीचे पत्थरोंपर चूर-चूर होकर आकाशमें उछलते हुए, स्वर्गकी कामातुर देवाङ्गनाओंके देहतापको शांत करते हैं।

टिप्पणी—मल्लिनाथने निर्झरौघाःका पर्याय गिरिनदप्रवाहाः दिया है तथा पुनरुक्तिकी शंका करके चूतवृक्ष इत्यादिकी तरह सामान्य-विशेषभाव मानकर उसका समाधान किया है। इतने प्रपञ्चकी क्या आवश्यकता है हम नहीं समझते। इसी प्रकार पुंवत्पातंका जो वानप्रस्थकी आत्महत्या रूप अर्थ उन्होंने किया है यदि यही कविका अभिप्राय रहा हो तो इस बीभत्सताको कोई भी सहृदयग्राह्य नहीं कह सकता। वास्तवमें यदि यहाँ पुंवत् शब्द न रहता तो अधिक अच्छा होता। रहनेपर भी उसका भाव यही है ऊँचे झरनोंसे गिरते हुए जल समूह मनुष्य जैसे (पिण्डाकार) दिखाई दे रहे हैं वे जब नीचे शिलाओं-

पर गिरते हैं तो चूर-चूर हो जाते हैं। जितने ऊपर से जल गिरता है उसकी विशीर्ण बूंदें उतना ही ऊपर उछलती हैं, जिसकी कविने स्वर्लोककी स्मरार्त कामिनियोंके गात्र-निर्वाणकी उत्प्रेक्षा की है।

इसमें शालिनी छन्द है—मात्तौ गौ चेच्छालिनो वेदलोकैः। इसके प्रत्येक चरणमें मगण दो तगण और दों गुरु SSS SS। SS। SS, होते हैं तथा ४, ७ पर विराम होता है ॥ २३ ॥

स्थगयन्त्यमूः शमितचातकार्तस्वरा
जलदास्तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः
सवितुः क्वचित् कपिशयन्ति चामी कराः ॥२४॥

अन्वयः—इह, अमूः जगतीः, क्वचित्, शमितचातकार्तस्वराः, तड़ित्तुलितकान्तकार्तस्वराः, जलदाः, स्थगयन्ति, क्वचित्, च, स्फुरितचारुचामीकराः, सवितुः, अमी, कराः, कपिशयन्ति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। अमूः जगतीः=इन भूमियोंको। क्वचित्=कहीं। शमितचातकार्तस्वराः=शान्त किया है चातकोंके आर्तस्वरको जिन्होंने ऐसे। तड़ित्तुलितकान्तकार्तस्वराः=विजलीसे तुलनाकी जा सकती है सुंदर सुवर्णकी जिनमें, ऐसे। जलदाः=मेघ। स्थगयन्ति=ढक देते हैं। क्वचित् च=और कहीं। स्फुरितचारुचामीकराः=चमक रहा है सुन्दर सुवर्ण जिनसे ऐसो। सवितुः अमी कराः=सूर्यकी ये किरणें। कपिशयन्ति=पीला कर रही हैं।

सर्वङ्कषा—स्थगयन्तीति। इह=अद्रौ। क्वचिदमूर्जगतीः=भूमीः। 'जगती भुवने भूमौ' इति विश्वः। शमिताश्चातकानामार्तस्वरा यैस्ते शमितचातकार्तस्वराः। 'सर्वंसहापतितमम्बु न चातकानाम्' इति भूमिगतस्य तेषां विषाभत्वादभौमाम्बुदानेनोज्जीवन्तीत्यर्थः। किञ्च तडिद्भिस्तुलितानि=उपमितानि कान्तानि कार्तस्वराणि=सुवर्णानि यैस्ते तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः। तडित्स्फुरणे तेषामपि तद्वत्स्फुरणादिति भावः। ते जलदाः स्थगयन्ति=आच्छादयन्ति। 'स्थग आच्छादने' इति चौरादिकः। क्वचित्तु स्फुरितानि=उल्लसितानि चारूणि चामीकराणि=सुवर्णानि यैस्ते स्फुरितचारुचामीकरा अमी सवितुः कराः=आतपाश्च कपिशयन्ति=कपिशिताः कुर्वते। क्वचिद् वृष्टिः क्वचिदातपश्चेति महदाश्चर्यमिति भावः। पथ्या वृत्तम्। 'सजसा यलौ च सह गेन पथ्या मता' ॥ २४ ॥

भावार्थ—इस पर्वतपरकी इन भूमियोंको कहीं तो चातकोंकी प्यास बुझानेवाले तथा जिनकी विजलीसे सुवर्णकी उपमा दी जा सकती है ऐसे, मेघ ढंके रहते हैं और कहीं चमक रहा है सुन्दर सुवर्ण जिनसे ऐसी ये सूर्यकी किरणें, पीला कर दे रही हैं।

टिप्पणी—मल्लिनाथने "कहीं पानी बरस रहा है तो कहीं धूप हो रही है" यह इस श्लोकका भाव निकाला है। हम समझते हैं कवि कहना यह चाहता है कि इस पर्वतका कुछ भाग तो बादलोंसे ढका है और कुछ पर सूर्यकी किरणें पड़ रही हैं। पर्वत सुवर्णमय है अतः जहाँ सूर्यकिरणें पड़ रही हैं वहां तो प्रत्यक्ष ही सुवर्ण चमक रहा है, किन्तु जो भाग बादलोंसे ढका है उससे भी बिजलीके बहाने सोनेकी पीली चमक दीख रही है। शाब्दिक चमत्कार दिखानेके फेरमें अर्थका गला यहाँ भी घुट गया। कवि अनुप्रास के चक्करमें पूरे भाव व्यक्त नहीं कर पाया। साथ ही कपिशयन्ति यह प्रयोग भी खटकता है। सूर्यकी किरणें सुवर्ण पर पड़ेंगी तो पर्वतको कपिश=धूसर या मटमैला कैसे करेंगी।

यह पथ्या छन्द है-जिसके प्रत्येक चरणमें सगण जगण सगण लघु गुरु ।।ऽ ।ऽ। ।।ऽ ।ऽ।ऽ।।ऽ होते हैं ॥ २४ ॥

उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बै-
रुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः।
श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य
विष्वक्तटेषु पतति स्फुटमन्तरीक्षम् ॥२५॥

अन्वयः—उच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैः, उत्तम्भितोडुभिः, शिरोभिः, अतीवतराम्, उत्क्षिप्तम्, श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशम्, अन्तरीक्षम्, अस्य, तटेषु, विष्वक्, पतति, इति स्फुटम्।

पदार्थ—उच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैः=ऊपरको उठी हुई चन्द्रमाकी किरण-रूप हाथोंके सहारेसे। उत्तम्भितोडुभिः=रोक रखा है नक्षत्रोंको जिन्होंने, ऐसे। शिरोभिः=शिखरोंसे। अतीवतराम्=अत्यन्त। उत्क्षिप्तम्=उछाला हुआ। श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशम्=विश्वसनीयरूपसे झरनेके जलसा प्रतीत होनेवाला। अन्तरीक्षं=आकाश। अस्य तटेषु=इस पर्वतके किनारोंपर। विष्वक्=चारों ओर। पतति=गिर रहा है। (इति) स्फुटम्=यह स्पष्ट है।

सर्वङ्कषा—उत्क्षिप्तमिति। उच्छ्रिताः=उत्क्षिप्ताः सितांशोः=चन्द्रस्य

कराः=अंशवो हस्ताश्चावलम्बो येषां तैः। उत्तम्भितान्युडूनि यैस्तैः। उडूनि चावष्टभ्येत्यर्थः। शिरोभिः=शिखरैर्मस्तकैश्चातीवतरां=भृशतरम्। अतीवशब्दादव्ययादामुप्रत्ययः। उत्क्षिप्तम्=उद्यम्य धृतम् अन्तरीक्षं श्रद्धेयः=सादृश्याद्विश्वसनीयो निर्झरजलमिति व्यपदेशो=व्यवहारो यस्य तत्। दृढतरां निर्झरजलधियं कुर्वदित्यर्थः। अस्य=अद्रेस्तटेषु विष्वक्=समन्तात् पतति स्फुटं=सत्यम्। इन्दुकरानुडूनि चावष्टभ्य शिरोभिर्ध्रियमाणमपि दुरुद्धरत्वाद् अस्य-दन्तरीक्षमेवेदं न तु जलम्। सादृश्यात्तु व्यपदेशो दुर्वार इति सर्वतः पातिता, निर्झरजलं चोत्प्रेक्ष्यते। तेनोत्सेधविस्तारावस्य व्यज्येते ॥ २५ ॥

भावार्थ—ऊपरको उठी हुई चन्द्रकिरणरूप हाथोंके सहारे नक्षत्रोंको रोके हुए शिखरोंसे अत्यन्त उछाला हुआ और विश्वसनीय रूपसे झरनेके जलकी प्रतीति कराता हुआ आकाश, इस पर्वतके तटोंपर चारों ओर गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

टिप्पणी—ऊंचे-ऊंचे शिखरोंपरसे गिरते हुए झरनोंके निर्मल जलमें आकाशकी उत्प्रेक्षा की गई है। झरनोंका जल क्या गिर रहा है मानो आकाश ही गिर रहा है। यदि आकाश गिर रहा है तो उसमें तारे कैसे टिके हुए हैं? इसपर कहते हैं कि चन्द्रमाकी ऊपरको उठती हुई किरणें हाथोंसे जैसे उन्हें रोके हुए हैं। पर्वतके शिखर इतने ऊंचे हैं कि चन्द्रलोक उनसे नीचा पड़ता है, इसलिये चन्द्रमाकी किरणें ऊपर को उठ रही हैं। पर्वतकी अत्यन्त ऊंचाई और विस्तार इससे व्यक्त होते हैं। ॥ २५ ॥

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा
नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते
वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ॥२६॥

अन्वयः—एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीराः, अपरत्र, नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः सरितः, इह, कालिन्दीजलजनितश्रियः, सुरापगायाः, वैदग्धीम्, श्रयन्ते।

पदार्थ—एकत्र=एक ओर। स्फटिकतटांशुभिन्ननीराः=तटवर्ती स्फटिकोंकी किरणोंसे मिश्रित जलवाली (अर्थात् सफेद)। अपरत्र=दूसरी ओर। नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः=इन्द्रनील मणिकी किरणोंसे मिश्रित (अर्थात् नीले) जलवाली। सरितः=नदियां। इह=इस रैवतकपर। कालिन्दीजलजनितश्रियः=

यमुनाके जलसे उत्पन्न शोभावाली । सुरापगायाः=स्वर्गङ्गाकी । वैदग्धीम्=शोभाको । श्रयन्ते=धारण कर रही हैं ।

सर्वङ्कषा—एकत्रेति । एकत्र=एकस्मिन् भागे स्फटिकस्य यत्तटं तस्यांशुभिर्विभिन्ननीराः=मिश्रोदकाः । शुभ्रजला इत्यर्थः । अपरत्र=अपरस्मिन्भागे नीलाश्मनाम्=इन्द्रनीलानां द्युतिभिर्भिदुराणि=मिश्राण्यम्भांसि यासां ताः । नीलसलिला इत्यर्थः । इह=अद्रौ सरितः कलिन्दस्याद्रेरपत्यं स्त्री कालिन्दी=यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । तस्या जलैर्जनिता श्रीः=शोभा यस्यास्तस्याः । तत्सङ्गताया इत्यर्थः । सुरापगायाः=गङ्गाया वैदग्धीं=शोभां श्रयन्ते=भजन्ति । विदग्धस्य भावो वैदग्धी । ब्राह्मणादित्वात् 'गुणवचन–' इत्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । सोऽपि त्वस्य बाहुलकत्वादिह वैकल्पिकः । अत एव 'ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम्' इति वामनः । अत्र सितासितमणिगुणग्रहणात्सरितां यमुनासङ्गतगङ्गाशोभासादृश्याक्षेपात्तद्गुणोत्थापिता निदर्शना । प्रहर्षिणी वृत्तम् । 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥२६॥

भावार्थ—इस पर्वतपर नदियोंके एक ओरके किनारे स्फटिकके हैं उनकी किरणोंसे उपरका जल श्वेत हो रहा है और दूसरी ओरके किनारे इन्द्रनीलमणिके हैं अतः उनकी किरणोंके मिश्रणसे उधरका जल नीला हो रहा है । अतः ये नदियाँ यमुनाके नीले जलसे संयुक्त गंगाके श्वेत जलकी शोभाको धारण कर रही हैं ।

टिप्पणी—यह प्रहर्षिणी छन्द है, इसके प्रत्येक पादमें मगण नगण जगण रगण और गुरु ऽ ऽ ऽ । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ होते हैं और तीन-दशपर विराम होता है । गंगाका जल श्वेत तथा यमुनाका नीला प्रसिद्ध है ।

दे०—"सितासिते यत्र तरङ्गचामरे नद्यौ विभाते" अथवा

गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥ (नैषध)॥२६॥

इतस्ततोऽस्मिन् विलसन्ति मेरोः समानवप्रे मणिसानुरागाः ।
स्त्रियश्च पत्यौ सुरसुन्दरीभिः समा नवप्रेमणि सानुरागाः ॥२७॥

अन्वयः—मेरोः समानवप्रे अस्मिन्, इतस्ततः, मणिसानुरागाः, विलसन्ति, नवप्रेमणि पत्यौ, सुरसुन्दरीभिः समाः स्त्रियश्च, सानुरागाः (विलसन्ति) ।

पदार्थ—मेरोः समानवप्रे=मेरुके समान वप्र (प्राकार=परकोटा) वाले। अस्मिन्=इस (रैवतक)पर। इतस्ततः=इधर-उधर। मणिसानुरागाः= मणिमय शिखरोंके रंग। विलसन्ति=फैल रहे हैं। च=और। नवप्रेमणि= नये-नये प्रेमवाले। पत्यौ=पतिपर। सुरसुन्दरीभिः समाः=देवाङ्गनाओंके सदृश। स्त्रियः=स्त्रियां। सानुरागाः=अनुरागवाली होकर। विलसन्ति=क्रीड़ा कर रही हैं।

सर्वङ्कषा—इत इति। मेरोः समानवप्रे=तुल्यप्रस्थे अत एवास्मिन्नद्रा· वितस्ततो मणिसानुरागाः=रत्नतटकान्तयो विलसन्ति=प्रसरन्ति। किञ्च नवं प्रेम यस्य तस्मिन्नवप्रेमणि पत्यौ अनुरागेण सह वर्तन्त इति सानुरागाः सुरसुन्दरीभिः समाः=सरूपाः स्त्रियश्चेतस्ततो विलसन्ति=क्रीडन्ति। अन्योन्य- मनुरागिणोऽनुरूपाश्चेह विलासिनस्तदनुरूपाणि च विहारस्थलानि सन्तीति भावः ॥२७॥

भावार्थ—मेरु पर्वतके समान परकोटेवाले इस रैवतकमें मणिमय शिखरोंके विभिन्न रंग इधर-उधर फैल रहे हैं तथा देवाङ्गनाओं जैसी स्त्रियां अपने नये-नये प्रेमवाले पतियोंपर अनुरक्त होकर क्रीड़ा कर रही हैं।

टिप्पणी—यहां सानुरागाः—सानुरागाः यह पादान्त यमक है ॥२७॥

उच्चैर्महारजतराजिविराजितासौ
दुर्वर्णभित्तिरिह सान्द्रसुधासवर्णा।
अभ्येति भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारे-
रुद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् ॥२८॥

अन्वय :—इह सान्द्रसुधासवर्णा, महारजतराजिविराजिता, असौ उच्चैः, दुर्वर्णभित्तिः, भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः, उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्, अभ्येति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। सान्द्रसुधासवर्णा=गाढ़े चूने जैसी सफेद। महारजतराजिविराजिता=सुवर्ण शृङ्खलासे सुशोभित। असौ=यह। उच्चैः= ऊँची। दुर्वर्णभित्तिः=चांदीकी भीत। भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः=भस्मसे धूसर देहवाले कामारि (शिवजी) के। उद्वह्निलोचन=ऊपरको निकल रही है ज्वाला जिससे, ऐसे नेत्रवाले, ललामललाटलीलाम्=सुन्दर ललाटकी शोभाको। अभ्येति=प्राप्त हो रही है।

सर्वङ्कषा—उच्चैरिति। इह=अद्रौ सान्द्रया सुधया=लेपविशेषेणामृतेन वा सवर्णा=समानवर्णा। 'ज्योतिर्जनपद—' इत्यादिना समानस्य सादेशः।

'लेपभेदेऽमृते सुधा' इति वैजयन्ती : महारजतराजिविराजिता=काञ्चनरेखाशोभिता असौ=पुरोवर्तिनी उच्चैः=उन्नता दुर्वर्णभित्तिः=रजतभित्तिः । 'महारजतकाञ्चने' इति, 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यम्' इति चामरः । भस्मना परिपाण्डुरितस्य स्मरारेरुद्वह्नि=उद्गतार्चिर्लोचनमेव ललामं=भूषणं यस्य तस्य ललाटस्य लीलां=शोभामस्येति=भजतीति निदर्शनालङ्कारः । 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः ॥२८॥

भावार्थ—इस पर्वतपर गाढ़े चूने जैसी सफेद तथा सुवर्णश्रृङ्खलासे सुशोभित यह चांदीकी भीत भस्मसे धूसर देहवाले कामारि शिवजीके ऊपरको आग बरसाते हुए नेत्रवाले ललाटकी सुन्दर शोभाको प्राप्त हो रही है ।

टिप्पणी—महारजत सुवर्णका और दुर्वर्ण चांदीका पर्याय है । महच्चतद्रजतंच इस विग्रहमें "सन्महत्—" (२।१।६१) से समास और "आन्महतः" (६।३।४६) से आत्व हुआ है, दुर्वर्णमें 'सुवर्णपिक्षया दुष्टो वर्णोऽस्य' यह विग्रह है । चांदीकी दीवालपर सुवर्णकी रेखा ऐसी प्रतीत हो रही है जैसे भस्मच्छुरित शिवजीके ललाटपर उनके त्रितीय नेत्रसे कामदेवको भस्म करनेके लिए यह अग्निकी लपटें निकल रही हों । यह भाव है ॥२८॥

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः ।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति ॥२९॥

अन्वय :—अयम्, अतिजरठाः, प्रकामगुर्वीः, अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः, सततम्, असुमताम्, अगम्यरूपाः, परिणतदिक्करिकाः, तटीः, बिभर्ति ।

पदार्थ—अयम्=यह (रैवतक) । अतिजरठाः=अत्यन्त कठोर (=अतिवृद्धा) । प्रकामगुर्वीः=अत्यन्त ऊँची (अति मोटी) । अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः=अत्यन्त नीचे लटकते हुए मेघोंसे घिरी (वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त नीचे तक लटकते स्तनोंवाली) सततम्=निरन्तर, असुमताम्=प्राणियोंसे । अगम्यरूपाः=जहाँ तक पहुँचा नहीं जाता, ऐसी (अवश्य ही जिनके साथ प्राणी संभोगकी कल्पना नहीं कर सकता ऐसी) । परिणतदिक्करिकाः=दिग्गजोंने दाँतोंसे जिनको खोद डाला है ऐसी (सम्भोग-कालीन दन्तक्षत जिनके पक चुके हैं ऐसी) तटीः=तटभूमियोंको । बिभर्त्ति=धारण करता है ।

सर्वङ्कषा—अयमिति । अयं=गिरिः अतिजरठाः=अतिकठिनाः, अतिजरतीश्च । 'जरठः कठिने जीर्णे' इति वैजयन्ती । प्रकामं गुर्वीः=श्रेष्ठाः, स्थौल्याद् दुर्भराश्च प्रकामगुर्वीः । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः ।

विस्पष्टपटवत् 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति समासः। अलघुभिर्विलम्बिभिः=लम्बमानैः पयोधरैः=मेघैः, स्तनैश्च। 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः। उपरुद्धाः=आवृताः निबद्धाः सततं=सर्वदाऽसुमतां=प्राणभृतामगम्यरूपाः=अत्यु न्नतत्वाद् दुरारोहस्वरूपाः, अन्यत्र वृद्धत्वाद्गमनानर्हविग्रहाः। 'त्यजेदन्त्यकुलोत्पन्नां वृद्धां स्त्रीं कन्यकां तथा' इति गमननिषेधादिति भावः। परिणताः=तिर्यग्दन्तप्रहारिणो दिक्करिणः = दिग्गजा यासु ताः परिणतदिक्करिकाः। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः। 'इनः स्त्रियाम्' इति समासान्तः कप्प्रत्ययः। अन्यत्र परिणताः = किणीभूता दिशो=दन्तक्षतविशेषाः करिकाः=नखव्रणाश्च यासां ताः। 'दिग्दष्टे वर्तुलाकारे करिका नखरेखिका' इति वैजयन्ती। तटीर्बिभर्ति। अत्र प्रकृततटीविशेषणमहिम्ना अप्रकृतवृद्धाङ्गनाप्रतीतेः समासोक्तिः। पुष्पिताग्रा वृत्तमुक्तम् ॥२९॥

भावार्थ—यह पर्वत अत्यन्त कठोर, अति ऊँची, नीचेकी ओर लटकते मेघोंसे घिरी, प्राणियोंकी पहुँचसे दूर और दिग्गजोंके दन्तप्रहारोंसे खुदी हुई (अति बूढ़ी, मोटी, नीचे तक लटकते स्तनोंवाली, प्राणी जिनसे संभोगकी कल्पना भी न कर सकते हों ऐसी, और संभोगकालीन नखदन्तादिके घाव जिनके पककर भर चुके हैं ऐसी, स्त्रियों जैसी) तटभूमियोंको धारण करता है।

टिप्पणी—समासोक्तिके उदाहरण रूपमें इस माघके पद्यको कई लक्षणग्रन्थकारोंने उद्धृत किया है। क्योंकि प्रस्तुत तटोके विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत वृद्धाङ्गनाकी प्रतीति होती है। सततमसुमतामगम्यरूपाः तथा परिणतदिक्करिकाः ये विशेषण जहाँ माघकी शास्त्रज्ञता तथा पाण्डित्यका प्रदर्शन करते हैं वहीं दारुक द्वाराकी जानेवाली रैवतककी प्रशंसाके प्रकरणमें इस बीभत्स समासोक्तिद्वारा उनकी असहृदयताका भी पर्दाफाश होता है। परिणत उस हाथीकी संज्ञा है जो दांतोंसे तिरछा प्रहार कर रहा हो। दांतके घावको दिक् और नाखूनकी खरोंचको करिका कोशकारोंने कहा है। यह पुष्पिताग्रा छन्द है (लक्षण देखिये श्लोक) ॥२९॥

धूमाकारं दधति पुरः सौवर्णे वर्णेनाग्नेः सदृशि तटे पश्यामि।
श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीनामालीमिह तरवो बिभ्राणाः॥ ३०॥

अन्वयः—इह, पुरः, वर्णेन, अग्नेः सदृशि, सौवर्णे तटे, कुसुमसमूहे लीनां, अलीनाम् आलीं बिभ्राणाः, श्यामीभूताः, अमी तरवः, धूमाकारं दधति।

पदार्थ—इह=इस (पर्वत) पर। पुरः=सामने। वर्णेन=रंगसे। अग्नेः

सदृशि=अग्निके समान। सौवर्णे तटे=सुनहरे किनारेपर। कुसुमसमूहे लीनां=फूलोंके गुच्छोंमें व्याप्त। अलीनामालीं=भौंरोंकी पङ्क्तिको। बिभ्राणाः=धारण करते हुए। (अतएव) श्यामीभूताः=काले हुए। अमी तरवः=ये वृक्ष। धूमाकारं=धुएँके आकारको। दधति = धारण करते हैं।

सर्वङ्कषा—धूमेति। इह=अद्रौ पुरोऽग्रे वर्णेनाग्नेः सदृशि=समाने। अग्निसमानवर्ण इत्यर्थः। सौवर्णे=सुवर्णविकारे तटे कुसुमसमूहे लीनां=स्थिताम्। 'ल्वादिभ्यः' इति निष्ठानत्वम्। अलीनां=भृङ्गाणामालीम्=आवलीं बिभ्राणा अत एव श्यामीभूता अमी तरवो धूमाकारं=धूमसाम्यं दधति। त्वं पश्य। स्वर्णतटमग्निवद्भाति, श्यामास्तरवो धूमवद्भान्तीत्युपमा। जलधरमाला वृत्तम्। 'अब्ध्यङ्गैः स्याज्जलधरमाला म्भौ स्मौ' इति लक्षणात् ॥३०॥

भावार्थ—इस पर्वतमें सामने अग्निके समान पीले स्वर्णमय किनारोंपर, फूलोंके गुच्छोंमें मँडराती हुई भ्रमरपंक्तिको धारण करनेसे काले हुए, वृक्ष धुएंके समान दीखते थे।

टिप्पणी—जैसे अग्निसे धुआं निकलता हो ऐसे सुनहरे तटोंपर भौंरोंसे भरे फूलके गुच्छोंवाले काले-काले पेड़ दीख रहे थे, यह तात्पर्य है। यह जलधरमाला छन्द है। इसमें मगण भगण सगण और मगण SSS SII IIS SSS प्रत्येक पादमें होते हैं ॥३०॥

व्योमस्पृशः प्रथयता कलधौतभित्ती-
रुन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः ।
सौमेरवीमधिगतेन नितम्बशोभा-
मेतेन भारतमिलावृतवद्विभाति ॥३१॥

अन्वयः—व्योमस्पृशः, उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः, कलधौतभित्तीः, प्रथयता, सौमेरवीं, नितम्बशोभाम्, अधिगतेन, एतेन, भारतम्, इलावृतवद्, विभाति।

पदार्थ—व्योमस्पृशः=आकाशको छूते हुए। उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः=खिले हुए फूलोंसे युक्त चम्पाके समान पीली आभावाली। कलधौतभित्तीः=सुवर्णकी तलहटियोंको। प्रथयता=फैलाते हुए। (इसलिए) सौमेरवीं=सुमेरुकी सी। नितम्बशोभां=मध्यभागकी शोभाको। अधिगतेन=प्राप्त हुए। एतेन=इस (रैवतक)से। भारतम्=भारतवर्ष। इलावृतवद्=इलावृतकी तरह। विभाति=शोभित हो रहा है।

सर्वङ्कषा—व्योमेति । व्योमस्पृशः=अभ्रङ्कषाः उन्निद्रैः=विकसितैः पुष्पैर्वित्ता उन्निद्रपुष्पचणाः । 'तेन वित्त–' इति चणप्प्रत्ययः । ते च ते चम्पकाश्च तद्वत् पिङ्गभासः=पिङ्गवर्णाः कलधौतभित्तीः=कनकतटीः । 'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः । प्रथयता=प्रकटयता अत एव सौमेरवीं=सुमेरुसम्बन्धिनीं नितम्बशोभां=कटकलक्ष्मीं अधिगतेन=प्राप्तवता । 'गत्यर्थाकर्मक–' इत्यादिना गमेः कर्तरि क्तः । एतेन=रैवतकाद्रिणा भारतं=भरतस्य राज्ञ इदं भारताख्यं वर्षं भूखण्डम् । 'स्याद्-वृष्टौ लोकधात्वंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्' इत्यमरः । इलावृतवत्=इलावृतवर्षमिव विभातीत्युपमा । नवखण्डस्य जम्बूद्वीपस्य हिमाद्र र्दक्षिणभूखण्डं हैमवतापरनामकं भारतवर्षं सुमेरुयोगात् सौमेरवापराख्यं मध्यमखण्डमिलावृतवर्षम् । अत एव 'नाम्नेदं भारतं वर्षं हिमाद्रेस्तच्च दक्षिणे । तेन हैमवतं नाम परेष्वप्येवमुन्नयेत् । इलावृतं सौमेरवं सुमेरोः परितो हि तत् ।' इति वैजयन्ती । ३१ ।

भावार्थ—आकाशको छूती हुई, खिले हुए पुष्पोंसे युक्त चम्पा की तरह पीली आभावाली सोनेकी भीतोंको फैलाते हुए, अतएव सुमेरुके मध्यभागकी शोभाको प्राप्त हुए इस रैवतकसे यह भारतवर्ष इलावृतवर्ष जैसा लग रहा है।

टिप्पणी—जम्बू द्वीप के ६ खण्ड हैं उनमें मध्यवर्ती खण्ड इलावृत वर्ष कहलाता है जिसमें मेरुपर्वत स्थित है। पुराणोंमें प्रसिद्ध है कि यह सम्पूर्ण इलावृत वर्ण सुवर्णमय है । इसीलिये मेरु पर्वत भी हेमाद्रि कहा जाता है । यहाँ कविका अभिप्राय है कि रैवतक पर्वत के स्वर्णमय शिखरोंपर चम्पाके पीले फूल खिले हुये हैं (अत्यन्त ऊँचाईमें होनेके कारण) उनकी पीली आभासे सारा देश पीला हो जा रहा है। प्रतीत होता है कि भारत भी इलावृत वर्ण ही है ॥३०॥

रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिर्विचलितैः परितः प्रियकव्रजैः ।
विविधरत्नमयैरभिभात्यसाववयवैरिव जङ्गमतां गतैः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—असौ, रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः, परितः प्रचलितैः, प्रियकव्रजैः, जङ्गमतां गतैः, विविधरत्नमयैः, अवयवैः, इव अभिभाति ।

पदार्थ—असौ=यह (रैवतक) पर्वत । रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः=सुंदर रंगविरंगे रोओंवाले । परितः प्रचलितैः=चारों ओर घूमते हुए । प्रियकव्रजैः= कम्बल मृगोंके झुण्डोंसे । जङ्गमतां गतैः=जङ्गमताको प्राप्त (चलते-फिरते) । विविधरत्नमयैः=विविध प्रकारके रत्नोंसे युक्त । अवयवैरिव=अवयवोंसे जैसे । अभिभाति=शोभित होता है ।

सर्वङ्कषा--रुचिरेति । असौ=गिरिः रुचिरैः=उज्ज्वलैः, चित्रैः=नानावर्णैः, तनूरुहैः=लोमभिः शालन्त इति तथोक्तैः परितः प्रचलितैः=प्रसरद्भिः प्रियकाः =कम्बलप्रकृतयो मृगविशेषाः । 'प्रियको रोमभिर्युक्तो मृदूच्चमसृणैर्घनैः' इति वैजयन्ती । तेषां व्रजैः=समूहैः; जङ्गमतां=चरिष्णुतां गतैर्विविधरत्नमयैरवयवैः =स्वाङ्गैरिव प्रतिभातीत्युत्प्रेक्षा । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

भावार्थ--सुंदर और रंगविरंगे रोओंवाले तथा चारों ओर घूमते हुए कम्बलमृगोंके झुंडोंसे प्रतीत होता है मानो इस पर्वतके विविध रत्नमय अवयव इधर-उधर हिलने-डुलने लगे हैं ।

टिप्पणी—प्रियक—उन मृगोंका नाम है जिनके रोओंसे कम्बल बनते हैं। विभिन्न रंगोंके रोओंवाले मृग इधर-उधर घूम रहे हैं, कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो रैवतकके विभिन्न रङ्गोंवाले अवयव हिलडुल रहे हों । द्रुतविलम्बित छन्द हैं ॥ ३२ ॥

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलभा विकस्वरैः ।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अत्र, जलाशयोषिताः कलभाः, विकस्वरैः कुशेशयैः, मुदा, रमन्ते, कलभाविकस्वरैः सिद्धगणैश्च, योषितामन्ते, उदारम्, प्रगीयते ।

पदार्थ--अत्र=इस (पर्वत)पर । जलाशयोषिताः=तालावोंमें रहनेवाले। कलभाः=हाथियोंके बच्चे । विकस्वरैः=खिले हुए । कुशेशयैः=कमलोंसे । मुदा= प्रसन्नतापूर्वक । रमन्ते=क्रीड़ा करते हैं । कलभाविकस्वरैः=कल (अव्यक्त मधुर) और भाविक (मनोभावोंको सूचित करते हुए) स्वरोंवाले । सिद्धगणैः= सिद्धगणोंसे । योषिताम् अन्ते=स्त्रियोंके समीप । उदारम्=ऊँचे स्वरसे । प्रगीयते =गाया जाता है ।

सर्वङ्कषा-कुशेशयैरिति । अत्र जलाशयोषिता जलाशयेषु=ह्रदेषु उषिताः= वसन्तः । 'गत्यर्थाकर्मक-' इत्यादिना वसतेः कर्तरि क्तः । सम्प्रसारणम् 'मति- वुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति चकाराद्वर्तमानार्थता । कलभाः=त्रिशद्वर्षकरिणः 'त्रिश- द्वर्षस्तु कलभः' इति वैजयन्ती । विकस्वरैः=विकसनशीलैः । 'स्थेशभास पिसकसो वरच्' कुशेशयैः=शतपत्रैः । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । मुदा=प्रीत्या रमन्ते= क्रीडन्ति । करिविहाराणां कमलाकराणामयमाकर इति भावः । किञ्च कलाः= अव्यक्तमधुराः । विकारो=मानसो भावः स प्रयोजनमेषां भाविकाः उद्दीपका इत्यर्थः । कला भाविकाश्च स्वराः षड्जादयो येषां तैः कलभाविकस्वरैः

सिद्धगणैः=सुरसङ्घैः, योषितां=स्वस्त्रीणामन्ते=समीपे उदारम्=उच्चैः प्रगीयते च। भूस्वर्गोऽयमिति भावः ॥ ३३ ॥

भावार्थ—इस पर्वतपर तालाबोंमें बैठे हुए हाथियोंके बच्चे कमलोंसे खेल करते हैं और मधुर एवं मनोभावोंको सूचित करनेवाले स्वरोंमें सिद्धगण अपनी स्त्रियोंके पास बैठकर गाते हैं।

टिप्पणी—कलभ–हाथीका वह बच्चा जो ३० वर्षका हो कलभ कहलाता है। कुशेशय–वह लाल कमल जिसमें सौ पंखुड़ियाँ हों, कुशेशय कहलाता है। यहाँ यमककी छटा दिखानेमें ही कविका पाण्डित्य दर्शनीय है अन्यथा अपने मनोविकारोंको ऊँचे और उद्दीपक स्वरोंमें स्त्रियोंके समीप गाकर व्यक्त करना सिद्धगणोंके लिए विशेष शोभाधायक तो नहीं है ॥ ३३ ॥

आसादितस्य तमसा नियतेर्नियोगा-
दाकाङ्क्षतः पुनरपक्रमणेन कालम्।
पत्युस्त्विषामिह महौषधयः कलत्र-
स्थानं परैरनभिभूतममूर्वहन्ति ॥३४॥

अन्वयः—इह, अमूः, महौषधयः, नियतेः नियोगात्, तमसा, आसादितस्य, पुनः, अपक्रमणेन, कालम्, आकांक्षतः, त्विषां पत्युः, परैः अनभिभूतं, कलत्र-स्थानं वहन्ति।

पदार्थ—इह=इस (पर्वत) पर। अमूः=ये। महौषधयः=महौषधियाँ। नियतेर्नियोगात्=भाग्यवशात्। तमसा=अन्धकारसे। आसादितस्य=घिरे हुए। पुनः=फिर। अपक्रमणेन=(उस अन्धकारसे) छूट जानेसे। कालम् आकांक्षतः=समयकी प्रतीक्षा करते हुए। त्विषां पत्युः=सूर्यके। परैः अनभिभूतं=दूसरोंसे अनाक्रान्त। कलत्रस्थानं=स्त्रीपदको। वहन्ति=धारण करते हैं।

सर्वङ्कषा—आसादितस्येति। इह=अद्रौ अमूर्महौषधयो नियतेर्नियोगाद् =अस्मिन्काले इदं भावीति दैवशासनात्। तमसा=अन्धकारेण, तत्प्रायेण व्यसनेन वा आसादितस्य=आक्रान्तस्य पुनरपक्रमणेन=पुनरावृत्त्या कालं= समागमकालमाकाङ्क्षतः=पुनरागत्य सङ्गन्तुमिच्छत इत्यर्थः। त्विषां पत्युः= सूर्यस्य सम्बन्धि परैः=तेजोऽन्तरैः, पुरुषान्तरैश्चानभिभूतम्=अतिरस्कृतमनुपहतं च कलत्रस्थानं=कलत्रभूतानां त्विषां स्थानं=स्थितिं वहन्ति। निर्वहन्तीत्यर्थः। स्त्रीणां स्त्रीष्वेव रक्षणं कार्यमिति भावः। यथा केनचिदापदि न्यासीकृतानि कलत्राणि संरक्ष्य कालान्तरे साधवस्तस्मै प्रयच्छन्ति तद्वदोषध्योऽपि त्विषस्त्विषां

पत्युरर्पयन्तीत्यर्थः। एतच्च तासां सूर्यास्तसमये प्रज्वलनादुदये विपर्ययाच्चोपचर्यते। अत्र विशेषणसाम्यादर्कादीनामापन्नादिसाम्यप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३४॥

भावार्थ—इस पर्वतपर ये महौषधियाँ प्रभाओंके स्वामी उस सूर्यके, दूसरोंसे न तिरस्कृत किये गये स्त्रीपदको धारण करती हैं जो कि भाग्यवशात् अन्धकारसे घिर गया है और उससे छूटनेके लिए समयकी प्रतीक्षा कर रहा है।

टिप्पणी—इस पर्वतपर दिव्य महौषधियाँ रात्रिके अन्धकारमें चमकने लगती हैं। दिनमें सूर्यसे प्रकाश होता है, किन्तु प्रकृतिका नियम है कि रात्रिमें सूर्य अन्धकारसे ढक जाता है अतः वह प्रकाश इन औषधियोंसे हो जाता है। यहाँ "त्विषां पत्युः स्त्रीपदं वहन्ति" इन शब्दोंसे एक ऐसे सामान्य पुरुषकी प्रतीति होती है जो भाग्यवशात् विपत्तिसे घिर गया है और उससे छूटनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। तबतक उसकी स्त्री दूसरे सत्पुरुषों द्वारा सम्मानपूर्वक रक्षित रहती है। इसलिए समासोक्ति अलंकार है। सूर्यकी पत्नी प्रभा (त्विट् या कान्ति) मानी गई है। दिनमें जो प्रभा सूर्यके साथ थी वह रात्रिमें इन औषधियोंमें रहती है, यह भाव है।

यहाँ भी माघका कवित्व श्लाघनीय नहीं है। एक तो औषधीश चन्द्रमाको माना गया है सूर्यको नहीं। दूसरे औषधियाँ मानों ऐसी सामान्य स्त्रियों जैसी हैं जो कि किसी भी दूसरे पुरुषका स्त्रीत्व वहन कर लेती हैं॥ ३४॥

वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः प्रमदा इवात्र।
पुष्पेक्षणैर्लम्भितलोचकैर्वा मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रतत्यः॥ ३५॥

अन्वय :—अत्र, वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः, व्रतत्यः, मधुव्रतव्रातवृतैः पुष्पेक्षणैः, लम्भितलोचकैः वा, प्रमदा इव।

पदार्थ=अत्र=इस पर्वतपर। वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः=वृक्षके तनेपर रखे हैं नवपल्लवरूप हाथ जिन्होंने, ऐसी। व्रतत्यः=लताएँ। मधुव्रतव्रातवृतः=भ्रमरोंके समूहसे ढके हुए। (अतएव) लम्भितलोचकैः वा=काजल लगाये जैसे। पुष्पेक्षणैः=पुष्परूप नेत्रोंसे। प्रमदा इव=स्त्रियों जैसी (दीखती थीं)।

सर्वङ्कषा—वनस्पतीति। अत्र=अद्रौ वनस्पतयः=वृक्षाः। 'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे विना पुष्पफलद्रुमे' इति विश्वः। तेषां स्कन्धेषु=प्रकाण्डेषु, अंसेषु च निषण्णाः=सक्ता बालप्रवालाः=बालपल्लवा हस्ता इव यासां तास्तथोक्ताः।

मधूनि व्रतयन्ति भुञ्जते इति मधुव्रताः=मधुपास्तेषां व्रातेन=वृन्देन वृतैः=छन्नैः। अत एव लम्भिताः=प्रापिता लोचकाः=तारकाणि, कज्जलानि च यैस्तैर्वा। तैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। इवार्थे वाशब्दः तद्वदुत्प्रेक्षायां चोक्तः। 'लोचको मांस-पिण्डे स्यादक्षितारे च कज्जले' इति विश्वः। पुष्पैरीक्षणैरिव पुष्पेक्षणैरुपलक्षिता व्रतत्यः=लताः। प्रमदा इव लक्ष्यन्त इति शेषः। 'न प्रसिद्धे क्रियाध्याहारदोषः' इत्याह वामनः। लिङ्गाध्याहारवदिति ॥३५॥

भावार्थ—इस पर्वतपर वृक्षोंके तनेपर रखे हैं नवपल्लवरूप हाथ जिन्होंने, ऐसी लताएँ भौंरोंके समूहसे घिरे अत एव काजल लगाये जैसे फूलरूप नेत्रोंसे स्त्रियों जैसी प्रतीत होती थी।

टिप्पणी—वनस्पतिके स्थानमें वल्लभने 'पुरः' पति—पाठ माना है। वस्तु-स्थिति यह है कि यदि वनस्पति पाठ मानें तो लता के पक्षमें ही उचित अर्थ बैठता है और पुरः पति पाठ माननेपर स्त्रियोंके पक्षमें ही। वैसे माघ कहना यह चाहते हैं कि जैसे स्त्रियां पतिके कन्धेपर अपने कोमल हाथ रखती हुई काजल लगे और फूलों की तरह खिले नेत्रोंसे अत्यन्त सुन्दर दीखती हैं, ऐसे ही लताएँ वृक्षोंके तनोंपर अपने नवपल्लवरूप हाथ रखो हुई भौंरोंके समूहसे घिरे होनेसे काजल लगे जैसे फूलरूप नेत्रोंसे अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं। मल्लिनाथने लोचकका तारकाणि अर्थ किया है। फूलको नेत्रकी उपमा देनी है तब एक भौंरा उसपर बैठा हो तो उसे आंखकी पुतली माना जा सकता है, मधुव्रतां व्रातवृतैः से तो काजल से ढका हुआ ही अर्थ उचित है। हमें तो माघकी यह प्रमदा ही अत्यन्त ग्रामीण प्रतीत होती है जिसे न तो काजल लगाना आता है और न पतिके साथ खड़ा होना ॥३५॥

विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम्।
भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः ॥३६॥

अन्वय :—कदम्बसुरभौ, इह, विहगाः, अनुक्षणम्, अनेकलयम्, गाः, कलयन्ति, च धूतनवनीपवनः, अयं, पवनश्च मुहुः, अभ्रं, भ्रमयन् उपैति।

पदार्थ—कदम्बसुरभौ=कदम्बपुष्पोंसे सुगन्धित। इह=इस पर्वतपर। विहगाः=पक्षी। अनुक्षणम्=प्रतिक्षण। अनेकलयम्=विभिन्न लयोंवाली। गाः=वाणीको। कलयन्ति=कूजते हैं। च=और। धूतनवनीपवनः=हिलाया है नये-नये नीप (कदम्बों)के वनको जिसने ऐसा। अयं पवनः=यह वायु। मुहुः=बार-बार। अभ्रं=बादलोंको। भ्रमयन्=घुमाता हुआ। उपैति=आता है।

सर्वङ्कषा—विहग इति। कदम्बैः सुरभिः=सुगन्धिस्तस्मिन् कदम्बसुरभाविह=अद्रौ विहगाः=पक्षिणोऽनुक्षणं=प्रतिक्षणम् अनेके=बहुविधा लयाः=विच्छेदा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। गाः=वाचः। शब्दानित्यर्थः। कलयन्ति=उच्चारयन्ति। 'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः। किञ्च धूतानि=कम्पितानि नवानि नीपवनानि=कदम्बकाननानि येन स धूतनवनीपवनः। 'नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः। अयं पवनो मुहुरभ्रं=मेघं भ्रमयन्नुपैति। प्रमिताक्षरावृत्तम्। 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥३६॥

भावार्थ—कदम्बके फूलोंसे सुगन्धित इस रैवतकपर पक्षीगण प्रतिक्षण विभिन्न लयोंमें कूजते रहते हैं और यह वायु कदम्बके ताजे फूलोंको हिलाता हुआ और बार-बार बादलोंको उड़ाता हुआ समीपमें आता है।

टिप्पणी—यह प्रमिताक्षरा छन्द है; इसके प्रत्येक चरणमें सगण जगण और दो सगण, ।।ऽ।ऽ।।।ऽ।।ऽ होते हैं ॥३६॥

विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चि-
च्छ्रुत्वापि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः।
श्रेयान् द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं
गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥३७॥

अन्वयः—एषः, श्रेयान् द्विजातिः इव, आगमपरैः विद्वद्भिः, कथञ्चिद् विवृतं, अनिश्चितधीभिः अन्यैः, श्रुत्वा अपि, दुर्ग्रहम्, अघानि हन्तुं दक्षम्, गूढार्थं निधिमन्त्रगणं बिभर्ति।

पदार्थ—एषः=यह पर्वत। श्रेयान् द्विजातिः इव=श्रेष्ठ ब्राह्मणकी तरह। आगमपरैः=आगम (निधिकल्प=भूगर्भविद्या तथा मन्त्रशास्त्र)को जाननेवाले। विद्वद्भिः=विद्वानोंसे। कथञ्चिद् विवृतं=किसी प्रकार (कठिनतासे) व्याख्या किये गये। अनिश्चितधीभिः=अनिश्चित बुद्धिवाले। अन्यैः=औरों (अशास्त्रज्ञों) से। श्रुत्वापि=सुनकर भी। दुर्ग्रहं=दुःसाध्य। अघानि हन्तुं दक्षं=पापों (अथवा दुःखों) को नष्ट करनेमें समर्थ। गूढार्थं=गुप्त धन तथा गुप्त अर्थवाले। निधिमन्त्रगणं=निधियोंकी भाँति मन्त्रोंको (अथवा मंत्रोंकी भाँति निधियोंको) बिभर्ति=धारण करता है।

सर्वङ्कषा—विद्वद्भिरिति। एषः=अद्रिः श्रेयान्=श्रेष्ठः द्विजातिः=ब्राह्मण इव आगमः=निधिकल्पः, मन्त्रशास्त्रं च, स एव परं=प्रधानं येषां तैराग-

मपरैर्विद्वद्भिः=निधीनां मन्त्राणां च साधनविधानज्ञैः कथञ्चिद्विवृतं=स्वरूपतः प्रकाशितम् । नास्ति निश्चिता इदमित्थमिति निश्चयात्मिका धीर्येषां तैरनिश्चित-धीभिरन्यैरशास्त्रज्ञैः श्रुत्वाऽपि=इह निधिरस्ति, ईदृङ्महिमा असौ मन्त्र इति चासमुखादाकर्ण्यापि दुर्ग्रहं=दुःसाधनम् । अघानि=दुखान्येनांसि च हन्तुं दक्षं=समर्थम् । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । गूढः संवृतोऽर्थो धनम्, अभिधेयं च तस्मिंस्तत् गूढार्थम् । निधयो मन्त्रा इव, अन्यत्र निधय इव मन्त्रास्तेषां गणं बिभर्ति । द्विजातिर्मन्त्रगणमिव निधिगणमेष बिभर्तीत्युपमार्थः ॥३७॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण मंत्रसाधनाको जाननेवाले विद्वानों द्वारा कठिनाईसे व्याख्या किये गये तथा चञ्चल बुद्धिवाले व्यक्तियोंसे सुननेपर भी याद न रहनेवाले, पापोंका नाश करनेमें कुशल और गूढ़ अभिप्रायवाले मन्त्र-समूहको धारण करता है ऐसे ही यह पर्वत भी भूगर्भवेत्ताओं द्वारा किसी प्रकार शोध किये गये, अस्थिर बुद्धिवालों के लिये दुर्ग्राह्य, दरिद्रताको दूर करनेमें समर्थ गुप्तधनोंके खजानोंको धारण किये रहता है ॥३७॥

बिम्बोष्ठं बहु मनुते तुरङ्गवक्त्र-
श्चुम्बन्तं मुखमिह किन्नर प्रियायाः ।
श्लिष्यन्तं मुहुरितरोऽपि तं निजस्त्री-
मुत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम् ॥३८॥

अन्वय :—इह, तुरङ्गवक्त्रः, प्रियायाः, बिम्बोष्ठं मुखं, चुम्बतं, किन्नरं, बहुमनुते । इतरः अपि, उत्तुङ्गस्तनभरभीरुमध्याम्, निजस्त्रीम्, मुहुः, श्लिष्यन्तं तं (बहुमनुते) ।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर । तुरङ्गवक्त्रः=घोड़ेके मुखवाला (गन्धर्व) । प्रियायाः=(अपनी) प्रियाके । बिम्बोष्ठं=बिम्बफल जैसे ओठोंवाले । मुखं=मुखको । चुम्बन्तं=चूमते हुए । किन्नरं=किन्नर (देवयोनि विशेष) को । बहुमनुते=बहुत (भाग्यवान्) समझता है । इतरः अपि=दूसरा (किन्नर) भी । उत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम्=ऊँचे-ऊँचे स्तनोंके भारसे टूट जानेकी डर है मध्य भाग (कटि प्रदेश) को जिसके, ऐसी । निजस्त्रीम्=अपनी पत्नीको । मुहुः=बार-बार । श्लिष्यन्तं=आलिङ्गन करते हुए । तं=उस किन्नरको (बहु-मनुते=बहुत भाग्यशाली समझता है ।)

सर्वंकषा—बिम्बोष्ठमिति । इह=अद्रौ तुरङ्गस्य वक्त्रमिव वक्त्रं यस्य स तुरङ्गवक्त्रः=देवयोनिविशेषः । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोप-

श्चेत्युष्ट्रमुखवत् समासः। बिम्बकल्प ओष्ठो यस्य तं बिम्बोष्ठमित्युपमालङ्कारः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्' (वा०) इत्योकारः। प्रियाया मुखं चुम्बन्तं किन्नरं=मानुषमुखमश्वाङ्गं देवयोनिविशेषं बहु=गुरु यथा तथा मनुते=अववुध्यते। तुरङ्गवक्त्रस्य चुम्बनासम्भवादिति भाव। इतरः=किन्नरोऽप्युत्तुङ्ग-स्तनभरेण यो भङ्गस्तस्माद्भीरुर्मध्यो यस्यास्तां निजस्त्रीं=स्वस्त्रियम्। 'वाम्शसोः' इति विकल्पादियङादेशाभावः। मुहुः श्लिष्यन्तं=मानुषाङ्गत्वा-दालिङ्गन्तं तुरङ्गवक्त्रं बहु यथा तथा मनुते। तुरङ्गवपुषः किन्नरस्याश्लेषा-सम्भवादिति भावः। दुर्लभं प्रियं भवतीति रहस्यम्। मध्यस्याभङ्गेऽपि भङ्गोक्तेरतिशयोक्तिरुपमया संसृज्यते। प्रहर्षिणीवृत्तमुक्तम् ॥३८॥

भावार्थ—इस पर्वतपर घोड़ेके-से मुखवाला (गन्धर्व), अपनी प्रियाके बिम्ब जैसे ओठोंवाले मुखको चूमते हुए किन्नरको बड़ा भाग्यशाली समझता है और वह किन्नर भी ऊँचे स्तनोंके भारसे टूटनेको आशङ्कावाले कृश मध्यभाग-वाली अपनी स्त्रीको बार-बार आलिङ्गन करते हुए गन्धर्वको, भाग्यवान् समझता है।

टिप्पणी—किन्नर और गन्धर्व ये देवयोनि-विशेष हैं। किन्नरका मुख मनुष्यका और शेष शरीर घोड़ेका कहा गया है और गन्धर्वका मुख घोड़ेका तथा शेष शरीर मनुष्यका होता है। इसलिये गन्धर्व (घोड़ेके मुखवाला) अपनी प्रियाका चुम्बन करते हुए किन्नर को, तथा किन्नर (घोड़ेके शरीरवाला) अपनी प्रियाका आलिङ्गन करते हुए गन्धर्वको, भाग्यशाली समझता है। क्योंकि गन्धर्वका मुख घोड़ेका होनेसे वह अपनी प्रियाका विधिवत् चुम्बन नहीं ले सकता और किन्नरका शरीर घोड़ेका होनेसे वह अपनी प्रियाका आलिङ्गन नहीं कर सकता। अत्यन्त ग्राम्य कल्पना है। यह पर्वत गन्धर्वों और किन्नरोंकी भी आवास भूमि है यह तात्पर्य है ॥३८॥

यदेतदस्यानुतटं विभाति वनं ततानेकतमालतालम्।
न पुष्पितात्र स्थगितार्करश्मावनन्तताने कतमा लताऽलम् ॥३९॥

अन्वयः—अस्य, अनुतटं, ततानेकतमालतालम्, यदेतत्, वनं, विभाति, स्थगितार्करश्मौ, अनन्तताने, अत्र, कतमा, लता, अलम्, न पुष्पिता।

पदार्थ—अस्य=इस पर्वतके। अनुतटं=किनारोंपर। ततानेकतमालतालम्=फैले हैं अनेक तमाल और तालके वृक्ष जिसमें ऐसा। यदेतद्वनं=जो यह वन। विभाति=शोभित है। स्थगितार्करश्मौ=सूर्यकी किरणोंको रोकनेवाले

(अत्यन्तघने)। अनन्तताने=अपार विस्तारवाले। अत्र=इस (वन) में। कतमा लता=कौनसी लता। अलं=अत्यन्त। न पुष्पिता=नहीं फूली है।

सर्वङ्कषा—यदिति। अस्य=अद्रेरनुतटं=तटेषु। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। तता=विस्तृता अनेके=बहवस्तमालास्तालाश्च यस्मिंस्तत्ततानेकतमालतालं यदेतत्=पुरोवर्ति वनं विभाति स्थगितार्करश्मौ=तिरोहितातपे अनन्तताने=अपारविस्तारेऽत्र=वने कतमा लता का वा लता अलम्=अत्यन्तं न पुष्पिता। सञ्जातपुष्पा न भवतीति शेषः। सर्वापि पुष्पितेत्यर्थः ॥३९॥

भावार्थ—इस पर्वतके तटोंपर अनेक तमाल और ताड़के वृक्षोंके फैलाव वाला जो यह वन है, जहाँ कि सूर्यकी किरणें ऊपर ही रुक जाती हैं (अत्यन्त घने पत्तोंके कारण भूमिपर नहीं पड़ पाती) तथा जिसका विस्तार अनन्त है, ऐसे इस वनमें कौन-सी लता ऐसी है जो पूरीकी पूरी न फूली हो (अर्थात् सभी लताएँ फूलोंसे लदी हैं।) ॥३९॥

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः
सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला
नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥४०॥

अन्वय—अस्मिन्, दन्तोज्ज्वलासु, सद्रत्नचित्रकटकासु, अधित्यकासु, विमलोपलमेखलान्ताः, बृहन्नितम्बाः, घनकोमलगण्डशैलाः, नार्यः, अनुरूपम्, अधिवासम्, भजन्ति।

पदार्थ—अस्मिन्=इस पर्वतपर। दन्तोज्ज्वलासु=उज्ज्वल (स्वच्छ) निकुञ्जों (झाड़ियों) वाली। सद्रत्नचित्रकटकासु=श्रेष्ठरत्नोंसे युक्त रंगविरंगे शिखरोंवाली। अधित्यकासु=ऊर्ध्वभूमियों (पठारों)में। (दन्तोज्ज्वलाः=उजले दांतोंवाली) सुविमलोपलमेखलान्ताः=अत्यन्त निर्मल मणियोंकी मेखलावाली। (सद्रत्नचित्रकटकाः=उत्तमरत्नजटित विचित्र कंकणोंवाली) सुबृहन्नितम्बाः=सुन्दर बड़े-बड़े नितम्बोंवाली। घन कोमलगण्डशैलाः=चिकने और कोमल कपोलों वाली। नार्यः=स्त्रियाँ। अनुरूपम्=अपने अनुरूप। अधिवासं=आवासको। भजन्ति=प्राप्त करती हैं।

सर्वङ्कषा—दन्तोज्ज्वलास्विति। अस्मिन्=अद्रौ दन्ताः=निकुञ्जाः, दशनाश्च। 'दन्तो निकुञ्जे दशने' इति विश्वः। तैरुज्ज्वलासु=रुचिरासु सद्रत्नैश्चित्राणि कटकानि=सानूनि, वलयानि च यासां तासु। 'कटकं वलये सानौ' इति

विश्वः। अधित्यकासु=ऊर्ध्वभूमिषु। 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः इत्यधिशब्दात्त्यकन्प्रत्ययः। विमलोपलाः= उज्ज्वलशिलाः, उज्ज्वलमणयो वा मेखलाः=काञ्च्यः। नितम्बभूमयश्च। 'मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति विश्वः। ताभिरन्ताः=रम्याः। 'मृतावसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवे। बृहन्तो नितम्बाः=कटिपश्चाद्भागाः शिखराणि च यासां ताः। 'नितम्बो रोधसि स्कन्धे शिखरेऽपि कटेरधः' इति विश्वः। घनाः=विपुलाः कोमलाः=श्लक्ष्णा गण्डशैला=गण्डस्थलानि स्थूलोपलाश्च यासां ता नार्योऽनुरूपम्=इच्छासदृशम्, आत्मसदृशं वाधिवासं भजन्ति। अत्र नारीणामधित्यकानां च प्रकृतात्केवलप्रकृतगोचरा श्लेषोपस्थापिता तुल्ययोगिता। अतएवोभयविशेषणान्युभयत्र विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि ॥४०॥

भावार्थ—इस पर्वतमें स्त्रियां अपने ही जैसे स्वरूपवाले आवासको प्राप्त करती थीं। जैसे—स्त्रियां उज्ज्वल दांतोंवाली थीं तो अधित्यकाएँ उज्ज्वल दन्तों (निकुञ्जों-झाड़ियों)वाली थीं। स्त्रियां निर्मल मणियोंकी करधनी पहिनी थी तो अधित्यकाओंके मध्यभाग निर्मलमणियोंसे भरे थे। स्त्रियां उत्तम रत्नोंसे जटित विचित्र कटक (कङ्कण) पहिने थीं तो अत्यधिकाएँ उत्तम विचित्र रत्नोंसे युक्त शिखरोंवाली थी, स्त्रियोंके नितम्ब विशाल थे तो अधित्यकाओंके तट भी विशाल थे। स्त्रियोंके चिकने कोमल कपोल थे तो अधित्यकाओं के गण्डशैल (टूटकर निकले हुए चट्टान) थे (इस प्रकार) स्त्रियोंका जैसा अपना स्वरूप था वैसा ही उन अधित्यकाओंका भी, जिनमें वे रह रहीं थीं।

टिप्पणी—यहां मल्लिनाथने श्लेषोपस्थापिता तुल्ययोगिता मानकर विशेषणोंको विभक्ति बदलकर दोनों ओर लगानेको कहा है। किन्तु हमारे विचारसे ऐसी स्थिति तब आनी चाहिए जबकि सभी विशेषण एकविभक्तिक हों और विशेष्य भिन्नविभक्तिक। यहां स्त्रियोंके पक्षमें तो विभक्ति-विपरिणामकी आवश्यकता ही नहीं, अधित्यकाओंके पक्षमें आधे विशेषणोंमें विपरिणाम होगा। इस दृष्टिसे रचना निर्दोष नहीं कही जा सकती। ठोक-पीटकर तो कुछ भी किया जा सकता है ॥४०॥

अनतिचिरोज्झितस्य जलदेन चिर-
स्थितबहुबुद्बुदस्य पयसोऽनुकृतिम्।
विरलविकीर्णवज्रशकला सकला-
मिह विदधाति धौतकलधौतमही ॥४१॥

अन्वयः—इह, विरलविकीर्णवज्रशकला, धौतकलधौतमही, जलदेन

अनतिचिरोज्झितस्य, चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य, पयसः, सकलाम्, अनुकृतिं, विदधाति ।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर । विरलविकीर्णवज्रशकला=कहीं कहीं बिखरे हैं हीरेके टुकड़े जिसमें, ऐसी । धौतकलधौतमही=शुभ्र चांदीवाली स्थली । जलदेन=मेघके द्वारा । अनतिचिरोज्झितस्य=तत्काल बरसाये हुए । चिरस्थित-बहुबुद्बुदस्य=बहुत देरतक उठ रहे हैं बुलबुले जिसमें ऐसे । पयस=जलकी । अनुकृति=सदृशताको । विदधाति=कर रही है ।

सर्वङ्कषा—अनतिचिरेति । इह=अद्रौ विरलं यथा तथा विकीर्णाः=प्रस-रणशीला वज्रशकलाः=श्वेतहीरकखण्डानि यस्यां सा । धौता=शुभ्रा कलधौतमही =रजतभूमिः । 'कलधौतं रूप्यहेम्नोः' इति विश्वः । जलदेनानतिचिरोज्झितस्य =तत्कालमुक्तस्य । शुभ्रस्येति भावः । चिरस्थिताः=चिरस्थायिनो बहवश्च बुद्बुदाः=जलस्फोटा यस्मिस्तस्य पयसः=अम्भसः सकलामनुकृतिं=समग्रसादृश्यं विदधाति । अत्र मेघोज्झितजलस्य स्थिरबुद्बुदासम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । कुररीरुता वृत्तम् । 'कुररीरुता नजभजैर्लगयुक्' इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

भावार्थ—इस पर्वतमें शुभ्र रजतमयी भूमिपर यत्र-तत्र हीरोंके टुकड़े बिखरे हैं जिससे वह भूमि एकदम उस जल जैसी दीख रही है जिसे बादलोंने तत्काल बरसाया हो और उसमें उठते हुए बहुतसे बुलबुले देर तक रह रहे हों ।

टिप्पणी—पानीके बुलबुलोंका स्वभाव है कि उठते हैं और तत्काल विलीन हो जाते हैं । किन्तु यहाँ स्वच्छ रजतमयी भूमिपर बिखरे हुए हीरोंकी कणियों-से, जोकि स्थिर हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे बुलबुले उठे ही रह गये हैं ।

यह "कुररीरुता" छन्द है । इसके प्रत्येक चरणमें नगण जगण भगण जगण और एक एक लघु गुरु ।।। ।ऽ। ऽ।। ।ऽ। ।ऽ होते हैं ॥४१॥

वर्जयन्त्या जनैः सङ्गमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं सङ्गमे कान्ततः ।
योपयैष स्मरासन्नतापाङ्गया सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया ॥४२॥

अन्वयः—एकान्ततः, कान्ततः, सङ्गमे, सुखं, तर्कयन्त्या, जनैः, सङ्गं, वर्जयन्त्या, स्मरासन्नतापाङ्गया, सन्नतापाङ्गया, अनेकया, एषः, सेव्यते ।

पदार्थ—एकान्ततः=एकान्तमें । कान्ततः=प्रियतमसे । सुखं तर्कयन्त्या= सुख चाहती हुई । (अतएव) जनैः सङ्गं वर्जयन्त्या=अन्य मनुष्योंका सङ्ग

छोड़ती हुई। स्मरासन्नतापाङ्गया=कामोद्रेकके कारण तप्त अङ्गोंवाली। सन्नतापाङ्गया=झुके हुए नेत्रकोणोंवाली। अनेकया योषया=अनेकों स्त्रियों द्वारा। एष सेव्यते=इस पर्वतका सेवन किया जाता है।

सर्वङ्कषा—वर्जयन्त्येति। एकान्ततः=एकान्ते। रहसीत्यर्थः। कान्ततः=कान्तेन। प्रियेणेत्यर्थः। उभयत्रापि सार्वविभक्तिकस्तसिः। सङ्गमे सति सुखं तर्कयन्त्या=उत्प्रेक्षमाणया। विस्रब्धं विहारमाकाङ्क्षन्त्येत्यर्थः। अत एव जनैः सङ्गं वर्जयन्त्या। कुतः। स्मरेणासन्नतापानि=प्राप्तज्वराण्यङ्गानि यस्यास्तस्या स्मरासन्नतापाङ्ग्या। 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' (वृत्तिवा०) इति विकल्पादिह पक्षे टाप्। सन्नतौ=नम्रावपाङ्गौ यस्यास्तस्या सन्नतापाङ्ग्या स्मरतापात् कूणितनेत्रया अनेकया योषया। अनेकाभिर्योषाभिरित्यर्थः। जातावेकवचनम्। 'स्त्री योषिदबला योषा नारी: सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। एषः=अद्रिः सेव्यते। इच्छाविहारस्थानानीह सन्तीति भावः। स्रग्विणी वृत्तम्। 'रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता' इति लक्षणात्॥ ४२॥

भावार्थ—एकान्तमें प्रियतमका सङ्गम चाहती हुई, अतएव भीड़भाड़से अलग रहनेवाली, कामोद्रेकके कारण सन्तप्त अङ्गोंवाली, सम्भोगके लिए आँखोंके कोने दबाकर संकेत करती हुई अनेकों स्त्रियाँ इस पर्वतपर रहती हैं।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि इस पर्वतपर अनेकों संकेतस्थल हैं जहाँ कामिनियां एकान्तमें अपने प्रियतमोंके साथ रति-सुखका आनन्द लेती हैं। यह स्रग्विणी छन्द है। इसके प्रत्येक चरणमें चार रगण SIS SIS SIS SIS होते हैं॥ ४२॥

सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवाल-
विच्छेदकातरधियश्चलितुं चमर्यः।
अस्मिन् मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्र-
निर्यत्स्वनश्रुतिसुखादिव नोत्सहन्ते॥४३॥

अन्वयः—अस्मिन्, संकीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियः, चमर्यः, मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात् इव, चलितुं, न, उत्सहन्ते।

पदार्थ—अस्मिन्=इस पर्वतपर। संकीर्णकीचकवन=सघन कीचकों (बाँसों) के जंगलमें, स्खलितैकवालविच्छेदकातरधियः=टूटते हुए एक बालके बिछुड़ जानेके भयसे खिन्न हुई। चमर्यः=चँवरगायें। मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्र=मन्द वायुसे पूर्ण उस बांसोंके छिद्रसे, निर्यत्स्वनश्रुतिसुखात् इव=निकलती

हुई ध्वनिको सुननेके आनन्दसे जैसे। चलितु=चलनेके लिये। नोत्सहन्ते=तत्पर नहीं होती।

सर्वङ्कषा—सङ्कीर्णेति। अस्मिन्=अद्रौ सङ्कीर्णाः=मिथः संलग्नाः कीचकाः=वेणुविशेषाः। 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः। तेषां वने स्खलितस्यैकवालस्य=एक रोम्णो विच्छेदात् कातरा=त्रस्ता धीर्यासां ताश्चमर्यो मृदुश्वसनो=मन्दमारुतो गर्भे येषां तेभ्यस्तदीयरन्ध्रेभ्यः कीचकविवरेभ्यो निर्यतो=निर्गच्छतः स्वनस्य श्रुत्या श्रवणेन यत्सुखं तस्मादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। चलितुं नोत्सहन्ते। वस्तुतस्तु वालप्रियत्वादिति भावः। 'शकधृष—' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः ॥४३॥

भावार्थ—इस पर्वत पर अत्यन्त घने कीचकों (वांसों)के जंगलमें अपनी पूंछका एक वाल उखड़ जानेकी डरसे चॅवर गायें इधर-उधर नहीं डोलतीं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन कीचकोंके छिद्रोंमें मन्दवायुके प्रवेशसे निकलती हुई सुखद ध्वनिको सुननेके आनन्दसे मानो वे कहीं जाना नहीं चाहतीं।

टिप्पणी—कीचक-उस वांसको कहते हैं जिसके अन्दर हवा जानेपर वह बजने लगता है। तुलना—सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः (रघु०) ॥४३॥

मुक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रै-
र्वापीष्वन्तर्लीनमहानीलदलासु।
शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशु द्रुतमम्भ-
श्छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—इह, अन्तर्लीनमहानीलदलासु, वापीषु, अभ्रैः, मुक्तं, मुक्तागौरं, क्षीरम् इव, अम्भः, शस्त्रीश्यामैः, अंशुभिः, आशु, द्रुतम्, नीलीसलिलस्य, अच्छां, छायाम्, ऋच्छति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। अन्तलर्नीनमहानीलदलासु=भीतर डूबे हुए इन्द्रनील (नीलम) के टुकड़ोंवाली। वापीषु=बावड़ियोंमें। अभ्रैः मुक्तं=बादलोंसे बरसाया हुआ। मुक्तागौरं=मोतीसा सफेद। (अत एव) क्षीरमिव=दूध जैसा (दीखनेवाला)। अम्भः=जल। शस्त्रीश्यामैः=छूरी जैसी सांवली। अंशुभिः=किरणोंसे। आशु=शीघ्र ही। द्रुतं=मिश्रित हुआ। नीलीसलिलस्य=नीलके रसकी। अच्छां छायां=स्वच्छ कान्तिको। ऋच्छति=प्राप्त करता है।

सर्वङ्कषा—मुक्तमिति। इह=अद्रौ अन्तर्लीनानि महानीलदलानि=इन्द्रनीलविशेषखण्डानि यासु तासु। 'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते मताः'

इति भगवानगस्त्यः । वापीषु=दीर्घिकास्वभ्रैः=मेघैर्मुक्तं=वृष्टं मुक्तागौरं=मौक्तिकशुभ्रं अत एव क्षीरमिव स्थितम् । शस्त्री=छुरिका । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च च्छुरिका चासिधेनुका' इत्यमरः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । शस्त्रीवच्छ्यामैरंशुभिरन्तर्गतेन्द्रनीलमरीचिभिराशु=तत्क्षणमेव द्रुतं=लोलितं सत् । छुरितमित्यर्थः । नीलीसलिलस्य=नीलाख्यौषधिपत्ररसस्य । 'नीली काला क्लीतकिका' इत्यमरः । अच्छां छायां=कान्तिमृच्छति । तत्सदृशीं छायां गच्छतीत्यर्थः । अतो निदर्शनालङ्कारः । स च मुक्तागौरं, क्षीरमिव, शस्त्रीश्यामैरिति चोपमात्रयेणान्तर्लीनमहानीलदलासु वापीष्विति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तेनोत्थापितेनांशुभिद्रुतमिति तद्गुणोत्थापित इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । क्षीरमिवेत्यनेनेन्द्रनीलानां सौष्ठ्यं सूचितम् । 'क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरं चेन्नीलतां व्रजेत् । इन्द्रनीलमिति ख्यातम्' इति लक्षणसम्भवात् । तेनात्र नीलीरसोपमानेन तद्वर्ण एवेति सूचितम् । 'नीलीरसनिभाः केचिच्छंभुकण्ठनिभाः परे' इत्यादिनाऽगस्त्येन रत्नशास्त्र एषामेकादशविधच्छायाभिधानादिति । मत्तमयूरं वृत्तम् । 'वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्' इति लक्षणात् ॥४४॥

भावार्थ—इस पर्वतपर बावड़ियोंके भीतर जो इन्द्रनीलमणियोंकी शिलायें हैं उनसे निकलती हुई कटार जैसी सांवली किरणोंसे, बादलोंसे बरसाया गया मोतियोंवाला दूध जैसा सफेद जल भी नीलके रस जैसा दिखाई दे रहा है ।

टिप्पणी—असली नीलमकी पहचान है कि उसे दूधमें डाल दिया जाय तो जितनी देर वह दूधमें रहेगा उतनी देर दूध नीला दिखाई देता है । बादलों द्वारा बरसाया हुआ मोतियोंवाला दूध जैसा सफेद जल बावड़ियोंके भीतर पड़े नीलमके टुकड़ोंकी किरणोंसे नीलके रस जैसा दीख रहा है । अर्थात् वे वास्तविक नीलम हैं । माघके इस पाण्डित्य पूर्ण कवित्वपर भी शस्त्रीश्यामैः इस उपमाने पानी फेर दिया । सांवलेको उपमाके लिए उन्हें कटार ही सूझी । यह मत्तमयूर छन्द है, इसमें ४।८ मात्राओंपर यति होती है और मगण तगण यगण सगण और गुरु SSS SSI ISS । IS S प्रत्येक चरणमें होते हैं ॥४४॥

या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम् ।
तेन सहेह बिभर्ति रहः स्त्री सा रतरागमनायतमानम् ॥४५॥

अन्वयः—अन्यवधूभ्यः, सारतरागमना, या, यतमानं, प्रियं, न ययौ, सा स्त्री, इह, तेन सह, अनायतमानं, रतरागं, रहः बिभर्त्ति ।

पदार्थ—अन्यवधूभ्यः=अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा। सारतरागमना=महत्त्वपूर्ण आगमनवाली। या=जो। यतमानं=प्रयत्न करते हुए। प्रियं=प्रियतमके पास। न ययौ=नहीं गई। सा स्त्री=वही स्त्री। इह=इस पर्वतपर। तेन सह=उसी प्रियतमके साथ। रहः=एकान्तमें। अनायतमानं=मानको हलका करके। रतरागं=सम्भोगके आनन्दको। विभर्त्ति=धारण कर रही है।

सर्वङ्कषा—या नेति। इह=अद्रावन्यवधूभ्यः=स्त्र्यन्तरेभ्यः। 'पञ्चमी विभक्तेः इति पञ्चमी। सारतरं=श्रेष्ठमागमनं यस्याः सा सारतरागमना। श्लाघ्यसङ्गमेत्यर्थः। या=स्त्री यतमानं=स्वप्राप्त्यै प्रयतमानम्। प्रार्थयमानमित्यर्थः। 'यती प्रयत्ने' शानच्। प्रियं न ययौ। सा=तथा प्रतिकूलापि स्त्री रहस्तेन=प्रियेण सह अनायतमानम्=आदीर्घरोषं यथा तथा रतरागं=सुरताभिलाषं बिभर्ति। अयमतिमानवतीरपि सद्य एवोद्दीपयतीति भावः। दोधकवृत्तम्—'दोधकवृत्तमिदं भभभा गौ' इति लक्षणात् ॥४५॥

भावार्थ—अन्य कामिनियोंकी अपेक्षा जिसका आना महत्त्वपूर्ण (अथवा आनन्ददायक) समझकर प्रियतमके प्रयत्न करनेपर भी जो संभोगके लिये नहीं आई (मानवती होनेसे रूठ गई), वही नायिका इस रैवतकपर एकान्तमें बिना प्रयत्नके उसी प्रियतमके साथ मानको हटाकर संभोगका आनन्द ले रही है।

टिप्पणी—अत्यन्त मानवती नायिकाओंके लिये भी यह परम उद्दीपक है, यह भाव है ॥४५॥

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम्।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्याः ॥४६॥

अन्वयः—इह, इन्दोः किरणेषु, उच्चावचैः रत्नकिरणैः भिन्नेषु, सहस्रसंख्याम् उपगतेषु, नलिन्यः, दोषाऽपि, असौ नूनम् अहिमांशुः किल इति, व्याकोश कोकनदतां, दधते।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। इन्दोः किरणेषु=चन्द्रमाकी किरणोंके। उच्चावचैः=अनेक प्रकारकी। रत्नकिरणैः भिन्नेषु=रत्नोंकी किरणोंसे मिल जानेसे। सहस्रसंख्यामुपगतेषु=हजारोंकी संख्यामें हो जानेपर। नलिन्यः=कमलिनियाँ। नूनम्=निश्चय ही। असौ=यह (हजारों किरणोंवाला)।

अहिमांशुः किल=सूर्य ही है। इति=इस प्रकार। दोषाऽपि=रात्रिमें भी। व्याकोशकोकनदतां=कमलोंके विकासको। दधते=धारण करती हैं।

सर्वङ्कषा—भिन्नेष्विति। इह=अद्राविन्दोः किरणेषु उदञ्चावाञ्चश्च तैरुच्चावचैः=अनेकविधैरित्यर्थः। 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः। मयूरव्यंसकादिषूच्चोच्चनीचाच्पराच्चोच्चावचकिञ्चनाकुतोभयानीति तत्पुरुषे निपातनात्साधुः। रत्नकिरणैर्भिन्नेषु=मिश्रेषु अत एव सहस्रसंख्यामुपगतेषु सत्सु। नलिन्यः=पद्मिन्यः। 'नलं पद्मं नलं तृणम्' इति शाश्वतः। असौ=प्रकाशमानो अहिमांशुः। किलेति। सहस्रकिरणत्वात् सूर्य एवेति सम्भावनाबुद्ध्येत्यर्थः। 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। दोषापि रात्रावपि। सप्तम्यर्थेऽव्ययम्। 'दिवाह्नीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनौ' इत्यमरः। व्याकोशकोकनदतां=विकचपद्मतां दधते=स्वीकुर्वन्ति। नूनमित्युत्प्रेक्षायाम्। 'अथ रक्तसरोरुहम्। रक्तोत्पलं कोकनदम्' इति, 'व्याकोशविकचस्फुटाः' इति चामरः। इह देवभूमित्वान्नित्यपद्मा नलिन्य इति भावः। इह नलिनीनां दोषातनविकासासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धरूपयातिशयोक्त्या तस्येन्दावर्कभ्रान्तिनिमित्तोत्प्रेक्षया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते।

भावार्थ—इस पर्वतपर जब चन्द्रकिरणें अनेकों प्रकारके रत्नोंकी किरणों, से मिलकर हजारोंकी संख्यामें हो जाती हैं (अर्थात् उनका प्रकाश अत्यन्त तीव्र हो जाता है) तब नलिनियां उसे निश्चय ही सूर्य समझकर रातमें भी खिलने लगती हैं।

टिप्पणी—यह प्रसिद्धि है कि नलिनी सूर्योदयके बाद ही खिलती है, तुलना०—'अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण' (नैषध)। यहां रत्नोंकी किरणोंसे मिलनेपर चांदनीका प्रकाश इतना तीव्र हो गया है कि नलिनियाँ चन्द्रमाको सूर्य समझकर रातमें भी खिलने लगती हैं ॥४६॥

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्त्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥४७॥

अन्वयः—अपशङ्कम्, अङ्कपरिवर्तनेषु, उचिताः, पतिम्, उपैतुं, पुरः चलिताः, आत्मजाः, निम्नगाः, करुणेन, पत्त्रिणां विरुतेन, एष, वत्सलतया, अनुरोदिति इव।

पदार्थ—अपशङ्कम्=निःशङ्क होकर। अङ्कपरिवर्तनोचिताः=गोदमें लोटपोट करनेमें अभ्यस्त। पतिमुपैतुं=पति (समुद्र) के पास जानेके लिये। पुरः

चलिता=सामने-सामने जाती हुई। आत्मजाः=अपनेसे उत्पन्न (कन्याकी तरह), निम्नगाः=नदियोंको। वत्सलतया=स्नेहके कारण। एष=यह पर्वत। करुणेन पतत्रिणां विरुतेन=पक्षियोंके करुणक्रन्दनके बहाने। अनुरोदिति इव=रो जैसा रहा है।

सर्वङ्कषा—अपशङ्कमिति। अपशङ्कं=निःशङ्कमङ्कपरिवर्तनेषु=उत्सङ्गलुण्ठनेषूचिताः=परिचिताः पतिं=भर्तारमुपैतुं पुरः=अग्रे चलिताः=प्रयाता आत्मजाः=स्वसम्भवा दुहितश्च निम्नगाः=नदीः करुणेन=दीनेन पतत्रिणां=पक्षिणां विरुतेन=क्रोशनेन निमित्तेनैषोऽद्रिर्वत्सलतया=वात्सल्येन। स्नेहेनेत्यर्थः। 'श्रीमान् स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति वलच्प्रत्ययः। अनुरोदितीव=अनुक्रोशतीवेत्युत्प्रेक्षा। 'रुदश्च पञ्चभ्यः' इति गुणः। 'रुदादिभ्य. सार्वधातुके' इतीट् ॥४७॥

भावार्थ—निःशङ्क होकर गोदमें खेलनेकी अभ्यस्त, पतिके पास जानेके लिए सामने ही चलती हुई, अपनेसे उत्पन्न हुई (कन्याकी तरह) निःशङ्क होकर मध्यभागमें वहती हुई, पति (समुद्र)के पास पहुँचनेके लिए पूर्वकी ओर बहती हुई नदियोंको, स्नेहके कारण यह पर्वत पक्षियोंके करुण क्रन्दनके वहाने जैसे रो रहा है।

टिप्पणी—जिसे वचपनसे गोदमें खेलाया है वह कन्या जब पतिगृहको जाने लगती है तो पिताको आंसू आना स्वाभाविक है (द्रष्टव्य-अभिज्ञान-शाकुन्तल चतुर्थ अंक)। ये नदियां भी इसी पर्वतसे उत्पन्न हैं अतः आत्मजा हैं ही इसीके मध्यभागमें वहती हुई पति (समुद्र) के पास पहुँचनेके लिए व्यग्र हैं, अतः पक्षियोंके करुण कलरवके वहाने रो जैसा रहा है। कविकी उत्प्रेक्षा उत्तम है ॥४७॥

मधुकरविटपानमितास्तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्य विटपानमिताः।
परिपाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता ॥४८॥

अन्वयः—मधुकरविटपानमिताः, विटपानमिताः, तरुपङ्क्तीः, बिभ्रतः, अस्य, रोधः, गलता, परिपाकपिशङ्गलतारजसा, कपिशं, चकास्ति।

पदार्थ—मधुकरविटपानमिताः=भौंरे रूप विटों द्वारा पी गई (चूमी गई)। विटपानमिताः=झुकी हुई शाखाओंवाली। तरुपङ्क्तीः=वृक्षपंक्तियोंको। बिभ्रतः=धारण करते हुए। अस्य=इस पर्वतका। रोधः=तट। गलता=गिरते

हुए। परिपाकपिशङ्गलतारजसा=पककर पीली हुई लताओंके परागसे। कपिशं चकास्ति=पीला हो गया है।

सर्वङ्कषा—मधुकरेति। मधुकरा एव विटास्तेषां पानं=चुम्बनमिताः=प्राप्ताः। इणः कर्तरि क्तः। विटपैः=शाखाविस्तारैरानमिताः विटपानमिताः। 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्याद्रेः रोधः=नितम्बो गलता=पतता परिपाकेण पिशङ्गीनां लतानां रजः=पुष्परेणुः तेन परिपाकपिशङ्गलतारजसा कपिशः=पिशङ्गं चकास्ति। मात्रावृत्तिरियमार्यागीतिरष्टगणा। 'अर्धे वसुगण आर्यागीतिः' इति पिङ्गलनागः।

भावार्थ—भौंरे रूप विटों द्वारा पी गई (चूमी गई), झुकी शाखाओंवाली वृक्षपंक्तियोंको धारण करते हुए इस पर्वतका तट, पककर पीली हुई लताओंके गिरते हुए फूलोंके परागसे पीला होकर चमक रहा है।

टिप्पणी—शाब्दिक चमत्कार लानेके लिये अर्थकी उपेक्षा कर देना इस कविका स्वभाव है, यहां भी जिस समासोक्तिको लाना चाहा वह आ नहीं पाई ॥४८॥

प्राग्भागतः पतदिहेदमुपत्यकासु
शृङ्गारितायतमहेभकराभमम्भः।
संलक्ष्यते विविधरत्नकरानुविद्ध-
मूर्ध्वंप्रसारितसुराधिपचापचारु ॥४९॥

अन्वय :—इह प्राग्भागतः, उपत्यकासु, पतत्, शृङ्गारितायतमहेभकराभम्, इदम्, अम्भः, विविधरत्नकरानुविद्धम्, ऊर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु, संलक्ष्यते।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। प्राग्भागतः=ऊँचे शिखरोंसे। उपत्यकासु=निचले भागोंमें। पतत्=गिरता हुआ। शृङ्गारितायतमहेभकराभम्=सजाये हुए विशाल हाथीके सूंड़ जैसी आभावाला। इदमम्भः=यह जल। विविधरत्नकरानुविद्धम्=नाना प्रकारके (रंग-विरंगे) रत्नोंकी किरणोंसे रंगीन। ऊर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु=ऊपरको फैले हुए इन्द्रधनुष जैसा सुन्दर। संलक्ष्यते=दिखाई देता है।

सर्वङ्कषा—प्राग्भागत इति। इह=अद्रौ प्राग्भागतः=ऊर्ध्वप्रदेशादुपत्यकासु=अधःप्रदेशेषु। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना' इत्यमरः। 'उपाधिभ्याम्—' इत्यादिनोपशब्दात्त्यकन्प्रत्ययः। पतत् शृङ्गारः=सिन्दूरादिमण्डनमस्य सञ्जातः शृङ्गारितः। 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे दिग्गजमण्डने' इति विश्वः। आयतः=

दीर्घः तस्य महेभकरस्याभेवाभा यस्य तत् । विविधरत्नानां करैः=अंशुभिरनुविद्धम्=अनुरञ्जितमिदमम्भ ऊर्ध्वप्रसारितं यत् सुराधिपचापम्=इन्द्रधनुस्तद्वच्चारु संलक्ष्यते । अत्रेन्द्रचापस्योर्ध्वत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । अभूतोपमेति मतान्तरम् । तिरोहितविवक्षायां तूपमानस्य प्रसिद्धत्वादुपमैवेयम् ॥४९॥

भावार्थ—इस पर्वतपर ऊपरकी ओरसे निचले भागोंमें गिरता हुआ, (सिन्दूर आदिसे) सजाये हुए विशाल हाथीके लम्बे सूँड़की भाँति तथा अनेक प्रकारकी रत्नकिरणोंसे रंगा हुआ सा जल, ऊपरकी ओर फैले हुए इन्द्रधनुष जैसा सुन्दर दीख रहा है ।

टिप्पणी—पर्वतके ऊँचे पठारोंको अधित्यका तथा निचले भागोंको उपत्यका कहते हैं । हाथीके सूँड़में प्रायः सिन्दूर आदि लगाये रहते हैं इसलिये शृङ्गारित विशेषण दिया है । यहां भी गैरिकादि धातुओंसे मिश्रित जल हो सकता है ॥४९॥

दधति च विकसद्विचित्रकल्प-
द्रुमकुसुमैरभिगुम्फितानिवैताः ।
क्षणमलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः
शिखरशिखाः शिखिशेखरानमुष्य ॥ ५० ॥

अन्वयः—च, अमुष्य, एताः, शिखरशिखाः, विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः, अभिगुम्फितान्, इव, अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः, शिखिशेखरान्, क्षणं, दधति ।

पदार्थ—च=और । अमुष्य = इस पर्वतकी । एताः = ये । शिखरशिखाः= शिखररूप शिखाएँ । विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः=खिले हुए रंगविरंगे कल्पवृक्षके फूलोंसे । अभिगुम्फितान् इव=गुँथे हुए जैसे । अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः = लम्बे लटकते हुए पंखोंरूप मालावाले । शिखिशेखरान्=मोररूप आपीडोंको । क्षणं दधति=कुछ समय तक धारण करती हैं ।

सर्वङ्कषा—दधतीति । किं चेति चार्थः । अमुष्य=अद्रेरेताः शिखराणि=शृङ्गाण्येव शिखाः=केशपाश्यः । 'शिखा चूडा केशपाशी' इत्यमरः । विकसद्भिर्विचित्रैः=नानावर्णैः कल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितान्=ग्रथितानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । अलघूनि विलम्बीनि=लम्बमानानि च पिच्छान्येव दामानि=स्रजो येषु तान् शिखिनः=केकिन एव शेखरान्=आपीडान् क्षणं दधतीव । 'शिखावलः शिखी केकी' इति, 'शिखास्वापीडशेखराः' इति चामरः । अत्र कुसुमगुम्फेनोत्प्रे-

चालिङ्गेन पिच्छादीनां दामादिरूपकसिद्धिस्तदुत्थापिता चोत्प्रेक्षेति संकरः। पुष्पिताग्रा वृत्तमुक्तम् ॥ ५० ॥

भावार्थ—और इस पर्वतके ये शिखररूप जड़े, खिले हुए रंगविरंगे कल्प वृक्षके फूलोंसे गुँथी हुई सी, लम्बी लटकती हुई पूँछरूप मालाओंवाले मोररूप शेखरोंको थोड़ी देरके लिये धारण करते हैं।

टिप्पणी—शिखर या आपीड उस मालाको कहते हैं जिसे स्त्रियाँ अपने जूड़के ऊपर लगाती हैं। यहाँ कविका अभिप्राय है कि इस पर्वतके शिखर मानो जूड़े हैं और उनपर थोड़ी देर लम्बे पंख लटकाकर बैठनेवाले मोर उनके आपीड (जूड़े परकी माला) हैं जिनके बीच-बीचमें जैसे खिले हुए रंगविरंगे कल्पवृक्षके फूल गुँथे हैं। यह पुष्पिताग्रा छन्द हैं लक्षण पहिले आ चुका है ॥ ५० ॥

सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरतममन्दरागतामरसदृशः।
नासेवन्ते रसवन्न नवरतममन्दरागतामरसदृशः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अस्मिन्, अनवरतममन्दरागतामरसदृशः, अमन्दरागतामरसदृशः, सुखिनः, सवधूकाः, रसवत्, नवरतम्, न आसेवन्ते, इति न।

पदार्थ—अस्मिन्=इस पर्वतपर। अनवरतम=अत्यन्त श्रेष्ठ, मन्दरागत=मन्दराचलसे आये हुए। अमरसदृशः=देवताओं जैसे। अमन्दराग=न मुरझानेवाले रंगसे युक्त, तामरसदृशः=कमल जैसे नेत्रोंवाले। सुखिनः=विलासी लोग। सवधूकाः=अपनी प्रियाओं सहित। रसवत्=अनुरागयुक्त। नवरतम्=नये सुरतको। न आसेवन्ते इति न=नहीं सेवन करते ऐसा नहीं।

सर्वङ्कषा—सवधूका इति। अस्मिन्=अद्रौ अवरे न भवन्त्यनवराः=श्रेष्ठा अनवरतमाः=श्रेष्ठतमाश्च मन्दरागतैरमरैः सदृशाः=सरूपाश्च अनवरतममन्दरागतामरसदृशः अमन्दरागाणि=अतिरक्तानि तामरसानि=पङ्केरुहाणीव दृशौ येषां तेऽमन्दरागतामरसदृशः=रक्तनेत्राः। 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः। सुखिनः=भोगिनः सहवधूभिः सवधूकाः सन्तः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। 'नद्यृतश्च' इति कप्। रसवत्=सानुरागम्। 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः। नवरतं=नूतनसुरतं नासेवन्त इति न, किंत्वासेवन्त एवेत्यर्थः। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः। विशिष्टसुरतानां सेवनस्य सामान्यतः प्रसक्तेः। उपमालङ्कारःगतेयमार्यागीतिः ॥ ५१ ॥

भावार्थ—इस पर्वतपर मन्दराचलसे आये हुए श्रेष्ठतम देवताओं जैसे और गहरे रंगके कमलके समान नेत्रोंवाले विलासी जन,अपनी प्रियाओंके साथ अनुराग-

पूर्वक सुरतक्रीड़ाका सेवन नहीं करते यह बात नहीं, अर्थात् अवश्य करते हैं ॥ ५१ ॥

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्त-
रावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः ।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानै-
र्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—एष, महान्तम्, पुष्पपटम्, आच्छाद्य, अन्तः, आवर्तिभिः, गृहकपोतशिरोधराभैः, आगुरवीं, धूमरुचिं दधानैः, नवनीरदानां पटलैः, स्वाङ्गानि, धूपायति इव ।

पदार्थ—एष = यह पर्वत । महान्तम् पुष्पपटम्=विशाल फूलों रूप वस्त्रको । आच्छाद्य=ओढ़कर । अन्तः आवर्तिभिः=भीतर घूमते हुए । गृहकपोतशिरोधराभैः=घरेलू कबूतरकी ग्रीवा जैसे । आगुरवीं धूमरुचि=अगुरुके धूँएकी शोभाको । दधानैः=धारण करते हुए । नवनीरदानां=नये-नये मेघोंके । पटलैः=समूहोंसे । स्वाङ्गानि=अपने अवयवोंको । धूपायति इव=धूपित जैसे कर रहा है ।

सर्वङ्कषा—आच्छाद्येति । एषः = अद्रिर्महान्त पुष्पाण्येव पट इति रूपकं तमाच्छाद्य अन्तः=पटाभ्यन्तर आवर्तिभिः—अभीक्ष्णं भ्रमद्भिः 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति णिनिः । गृहकपोतशिरोधराभाः=गृहपारावतकण्ठस्याभेवाभा येषां तैरित्युपमा । 'पारावते कपोतः स्यात्' इति विश्वः । अगुरोः=कालागुरोरिमामागुरवीम् । 'कालागुर्वगुरुः स्यात्' इत्यमरः । धूम्ररुचि=धूमकान्तिम् । तत्सदृशीमित्यर्थः । अत एव निदर्शना । दधानैर्नवनीरदानां पटलैः स्वाङ्गानि धूपायतीव=धूपैरिवाधित्रासयतीवेत्युत्प्रेक्षा रूपकोपमानिदर्शनाभिरङ्गैः सङ्कीर्यते । 'धूप सन्तापे' इति धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इत्यायप्रत्ययः ॥ ५२ ॥

भावार्थ—यह पर्वत महान् पुष्पपट (फूलरूपी वस्त्र अथवा एक वस्त्र विशेष) को ओढ़कर उसके भीतर घूमते हुए, पालतू कबूतरोंकी गर्दनसे दीखनेवाले, अगुरु (धूप)के धुंएकी शोभाको धारण करते हुए सांवले मेघोंके झुण्डोंसे अपने अंगोंको जैसे धूपसे सुवासित कर रहा है ।

टिप्पणी—पुष्पपट—ओढ़नेका वह विशेष वस्त्र है जिसे फूलों या धूपसे सुवासित किया जाता है । (देखिये—मृच्छकटिकमें जूर्णवृद्धके द्वारा चारुदत्तके लिए भेजा हुआ जातीपुष्पसे सुवासित पुष्पप्रावारक) । यहाँ चारों ओर फूलोंसे

वृक्ष लदे हैं, प्रतीत होता है जैसे पर्वत फूलोंकी चादर ओढ़ा है। पर्वत इतना ऊँचा है कि मेघ उसमें फूलोंके नीचे-नीचे मँडराते हैं। कालागुरुके धुँये जैसे मेघोंसे प्रतीत होता है मानो पर्वत अपने अंगोंको धूपका धुआँ दे रहा हो। माघका उपमा चमत्कार यहाँ भी देखनेको मिलता है जब वे नवनीरदानां पटलैः उभड़ते हुए बादलोंके झुण्डोंकी (एकआध छोटे-मोटे बादलकी नहीं) उपमा घरके पालतू कबूतरकी गर्दनसे देते हैं, जो इंचभर भी मोटी नहीं होती ॥५२॥

अन्योन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रै-
रत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखैः ।
विस्मेरान् गगनसदः करोत्यमुष्मि-
न्नाकाशे रचितमभित्तिचित्रकर्म ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अमुष्मिन्, अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः, विचित्रैः, अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः, मयूखैः, आकाशे, रचितम्, अभित्ति, चित्रकर्म, गगनसदः, विस्मेरान् करोति।

पदार्थ—अमुष्मिन्=इस पर्वतपर। अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः=परस्पर एक दूसरेसे मिश्रण होनेसे सुन्दर। विचित्रैः=नाना रंगोंके। अत्रस्यन्=निर्दोष। नवमणिजन्मभिः=नये-नये मणियोंसे उत्पन्न हुए। मयूखैः=किरणों द्वारा। आकाशे रचितम्=आकाशमें बना हुआ। अभित्ति=विना दीवालके। चित्रकर्म =चित्रकारी। गगनसदः=आकाशमें रहनेवाले (देवताओं) को। विस्मेरान् करोति=विस्मित करती है।

सर्वङ्कषा—अन्योन्येति। अमुष्मिन्=अद्रावन्योन्येषां व्यतिकरेण= मिश्रणेन चारुभिः अत एव विचित्रैः=नानावर्णैरत्रस्यन्तः=त्रासदोषेणादुष्यन्तः। 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः। 'वा भ्रास–' इत्यादिना वैकल्पिकः श्यन्प्रत्ययः। तेभ्यो नवमणिभ्यो जन्म येषां तैर्मयूखैराकाशे रचितमभित्ति= अकुड्यम्। अनाधारमित्यर्थः। चित्रकर्म कर्तृ। गगनसदः=खेचरान् विस्मेरान्=विस्मयशीलान् करोति। 'नमिकम्पि–' इत्यादिना रप्रत्ययः। अत्र मणिमयूखेषु खे चित्रकर्मभ्रान्तिमतामेवाभित्तिचित्रकर्मेत्यकारणकार्योत्पत्तिवर्णनाद् भ्रान्तिमदलङ्कारोत्थापिता विभावनेति सङ्करः। 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ—इस पर्वतपर परस्पर मिलनेसे सुन्दर, नानारंगोंवाली, निर्दोष, नई-नई मणियोंसे उत्पन्न किरणों द्वारा आकाशमें विना भीतके वनी हुई चित्रकारी आकाशमें रहनेवाले देवताओंको भी विस्मित करती थी ॥ ५३ ॥

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां
सतां जवनिका निकामसुखिनाम् ।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपा-
मपायधवला बलाहकततीः ॥ ५४ ॥

अन्वय :—समीरशिशिरः, शिरःसु वसतां, निकामसुखिनां, सतां, मुदं जनयन्, अयंम्, अपाम्, अपायधवलाः, वलाहकततीः, जवनिकाः, विभर्ति ।

पदार्थ—समीरशिशिरः=वायुसे शीतल । शिरःसु वसतां=शिखरोंपर रहनेवाले । निकामसुखिनां=अत्यन्त सुखी । सतां=सज्जनोंको । मुदं जनयन्=आनन्द उत्पन्न करता हुआ । अयम्=यह पर्वत । अपाम्=जलोंके । अपायधवलाः=वरस जानेसे शुभ्र । वलाहकततीः=बादलोंकी पंक्तियोंकी । जवनिकाः=परदोंको । विभर्ति=धारण करता है ।

सर्वङ्कषा -समीरेति । समीरेण=मारुतेन शिशिरः=शीतलः शिरःसु=शिखरेषु वसतां निकामसुखिनाम्=अत्यन्तसुखिनां सतां=पुण्यवतां मुदं जनयन्नयम्=अद्रिरपाम्=अम्भसामपायेन=अपगमेन धवला वलाहकततीः=मेघपङ्क्तीरेव जवनिकाः=तिरस्करिणीर्बिभर्ति । अनावृतेष्वपि शिखरेषु क्रीडने मेघैरेवावरणतां सम्पाद्य मुदं जनयतीत्यर्थः । अत्र वलाहकततिष्वारोप्यमाणानां जवनिकानां मुदं जनयन्निति प्रकृतोपयोगिवर्णनात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् । रूपके तूपरञ्जनमात्रमिति भेदः । जलोद्धतगतिर्वृत्तम् । 'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात् ॥५४॥

भावार्थ—शीतलवायुसे युक्त यह पर्वत चोटीपर अत्यन्त आनन्द पूर्वक वसनेवाले सज्जनोंके लिए, जल वरस जानेसे स्वच्छ (सफेद) वादलोंके समूह को पर्देकी भाँति धारण करता था ।

टिप्पणी—जवनिका—इस शब्दका प्रयोग परदेके लिए आता है । यवनिका को इसका शुद्धरूप मानकर और नाटकोंमें परदोंका अधिक प्रयोग देखकर कुछ लोगोंने यह कल्पना कर डाली है कि नाटकोंका प्रचलन भारतमें यूनानसे हुआ । यह नितान्त भ्रामक कल्पना है । गत्यर्थक जुधातुसे ल्युट् ङीप्

होकर जवनी शब्द बनता है उससे स्वार्थमें क प्रत्यय करके टाप् होकर यह शब्द सिद्ध होता है ॥५४॥

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥५५॥

अन्वय :—इह, समाधिभृतः, मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः, क्लेशप्रहाणं विधाय, लब्धसबीजयोगाः, सत्त्वपुरुषान्यतया ख्यातिं च अधिगम्य, ताम् अपि, निरोद्धुं, वाञ्छन्ति ।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर । मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः=मैत्री आदि चित्तशोधक कार्योंको जाननेवाले । क्लेशप्रहाणं विधाय=अविद्या आदि क्लेशोंको नष्ट करके । लब्धसबीजयोगाः=योगका आलम्बन जिन्होंने प्राप्त कर लिया है ऐसे । सत्त्वपुरुषान्यतया=प्रधान और पुरुषके पृथक्-पृथक् होनेकी । ख्यातिं=ज्ञान को । अधिगम्य=प्राप्त करके । समाधिभृतः=समाधि धारण करते हुए । तामपि=उस (सत्त्वपुरुषान्यता ख्याति) को भी । निरोद्धुं वाञ्छन्ति=रोकना चाहते हैं ।

सर्वङ्कषा—मैत्रीति । इह=अद्रौ समाधिं योगं बिभ्रतीति समाधिभृतः=योगिनः । मैत्रीकरुणा-मुदिता-उपेक्षेति चतस्रश्चित्तवृत्तयः । तत्र पुण्यकृत्सु मैत्री । दुःखिषु करुणा । सुखिषु मुदिता अनुमोदनम् । पापिषु उपेक्षा । मैत्री आदिर्येषां तानि चित्तस्य परिकर्माणि=प्रसाधकानि । शोधकानीत्यर्थः । तानि विन्दन्ति लभन्ते इति तद्विदः=तद्भाजः तैः । क्षीणान्तःकरणमला इत्यर्थः । अत एव क्लेशप्रहाणं विधाय । 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' । तत्रानित्येषु नित्यत्वाभिमानः, अनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरित्यादिविभ्रमोऽविद्या । अस्मिता अहङ्कारः । रागोऽभिमतविषयाभिलाषः । द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः । अभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः । ते हि पुरुषं क्लिश्यन्तीति क्लेशाः=क्लेशहेतवः । पचाद्यच् । तेषां प्रहाणं=क्षयः । 'कृत्यचः' इति णत्वम् । तद्विधाय । क्लेशान् हित्वेत्यर्थः । अतो लब्धः सबीजः=सावलम्बनो योगो यैस्ते लब्धसबीजयोगाः सन्तः । आलम्बनमेव व्यनक्ति । सत्त्वेति । सत्त्वपुरुषयोः=प्रकृतिपुरुषयोरन्यतया=अन्यत्वेन मिथो भिन्नत्वेन ख्यातिं=ज्ञानं चाधिगम्य । प्रकृतिपुरुषौ भिन्नाविति ज्ञात्वेत्यर्थः । 'प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाग्रहणात् संसारः ।

विवेकग्रहणान्मुक्ति'रिति सांख्याः । अथ तां=ख्यातिमपि निरोद्धुं = निवर्तयितुं वाञ्छन्ति वृत्तिरूपाम् तां निवर्त्य स्वयंप्रकाशतयैव स्थातुमिच्छन्तीत्यर्थः । 'प्रकृतावुपरतायां पुरुषस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः' इति सांख्यसिद्धान्तः । न केवलं भोगभूरियं, किन्तु मोक्षक्षेत्रमपीति भावः ॥५५॥

भावार्थ—इस पर्वतपर मैत्री आदि चित्त-शोधक कर्मोंको जाननेवाले, योगी लोग अविद्या आदि क्लेशोंका क्षय करके योगका आलम्बन प्राप्त किये हुए, प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् हैं यह ज्ञान हो जानेपर, समाधि द्वारा इस ज्ञानसे भी निवृत्त हो जाना चाहते हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोकमें माघने सांख्ययोगके मूलसिद्धान्तका अच्छा प्रतिपादन किया है । इसको समझनेके लिये योगकी सामान्य भूमिका जान लेना आवश्यक है ।

समाधि (चित्तकी वृत्तियोंका निरोध) ही योग है, (देखिये—"योगः समाधिः"–योगभाष्य १–१) । इन वृत्तियोंके उत्पन्न होनेके लिए चित्तकी स्थिति ५ प्रकारकी होती है—१. क्षिप्त, २. मूढ़, ३. विक्षिप्त, ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध ।

१. चित्त जो रजोगुणके प्रभावसे चञ्चल होकर सांसारिक विषयोंमें भटकता रहता है यह क्षिप्त कहलाता है ।
२. तमोगुणके उद्रेकसे जो विवेकशून्य स्थिति होती है वह मूढ़ कहलाती है, जैसे निद्रामें या उन्मत्तावस्थामें ।
३. सत्त्वगुणका उद्रेक रहनेपर भी रजोगुणके योगसे जिसमें असफलता या सफलताका निर्णय नहीं हो पाता, चित्त कभी इधर कभी उधर रहता है उसे विक्षिप्त कहते हैं ।
४. विशुद्ध सत्त्वके उद्रेकसे जिसमें एक ही विषयमें एकाग्र हुआ जाता है वह स्थिति एकाग्र कहलाती है ।
५. सभी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर भी उन वृत्तियोंके संस्कार चित्तमें जिसमें रह जाते हैं वह स्थिति निरुद्ध कहलाती है ।

इन स्थितियोंमें वर्तमान रहनेपर चित्तकी जो वृत्तियाँ हैं वे भी ५ प्रकार की होती हैं—१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा और ५. स्मृति ।

१. प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों द्वारा चित्तको विषयाकार करनेवाली वृत्तियाँ ।

२. विपर्यय—किसी वस्तुके मिथ्याज्ञान या संशयज्ञानमें चित्तको परिणत करनेवाली वृत्तियाँ।
३. विकल्प—जिस वस्तुका ज्ञान हो उसका अत्यन्त अभाव जिसमें रहे ऐसे ज्ञानवाली वृत्तियाँ।
४. निद्रा—वस्तुके अभाव ज्ञान को आलम्बन करनेवाली वृत्ति।
५. स्मृति—अनुभूत विषयोंका ठीक उसी रूपमें स्मरण करानेवाली वृत्तियाँ।

इन ५ प्रकारकी वृत्तियोंके निरोधसे ही तत्त्वज्ञान एवं दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, इसीका नाम योग या समाधि है।

यह समाधि दो प्रकार की होती है। १—संप्रज्ञात या सवीज समाधि, २—असंप्रज्ञात या निर्वीज समाधि। जब चित्त किसी एक वस्तुपर एकाग्रहोता है तब उसकी वही एकमात्र वृत्ति रह जाती है शेष वृत्तियाँ क्षीण होकर उसी को पुष्ट करने लगती हैं, यही संप्रज्ञात या सवीज समाधि है। इसमें कोई न कोई आलम्बन रहता है और समाधिकी स्थितिमें भी उस आलम्बनका भान होता है। ज्ञाता; ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंकी भावना बनी रहती है।

असंप्रज्ञात या निर्वीज समाधि वह है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंकी भावनाएँ अत्यन्त एकीभूत हो जाती हैं, सभी वृत्तियाँ परम वैराग्यसे निरुद्ध हो जाती हैं, आलम्बनका अभाव हो जाता है केवल संस्कारमात्र शेष रह जाता है, क्लेश और कर्माशय नष्ट हो जाते हैं।

क्लेश—मिथ्या ज्ञानसे उत्पन्न होकर जो चित्तपर गुणोंके अधिकार को दृढ़ करते हैं, परिणामको स्थापित करते हैं, कार्यकारणकी परम्परा को अभिव्यक्त करते हैं तथा परस्पर अनुग्राहक बनकर (जाति, आयु और भोग रूप) कर्मफलों को संपन्न करते हैं अर्थात् क्लेशसे कर्म, कर्मसे क्लेश इस परम्परा को चलाते हैं वे क्लेश कहलाते हैं। क्लेश ५ हैं—१. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश।

१. अविद्या—अनित्यमें नित्यकी, अशुचिमें शुचिकी, दुःखमें सुखकी तथा अनात्मामें आत्माकी भ्रान्ति ही अविद्या है।
२. अस्मिता—अहङ्कार ही अस्मिता है।
३. राग—सुखके लिए अत्युत्कट इच्छा ही राग है।

४. द्वेष—दुःखके साधनोंमें होनेवाला क्रोध द्वेष है।

५. अभिनिवेश—करने योग्य अथवा छोड़ने योग्य कार्योंमें आग्रह ही अभिनिवेश है।

इन क्लेशोंसे चित्तमें मलिनता आती है और मलिन चित्त समाधिकी साधनामें बाधक है। अतः उसे निर्मल करनेके लिये ईश्वरप्रणिधान आवश्यक है और ईश्वर-प्रणिधानमें ये सहायक हैं।

(१) मैत्री—संसारके सुखी प्राणियोंसे मित्रता करना।

(२) करुणा—दुःखी प्राणियोंपर दया करना।

(३) मुदिता—पुण्यात्माओंसे प्रसन्न होना।

(४) उपेक्षा—पापियोंकी उपेक्षा कर देना।

ये चित्तके परिकर्म अर्थात् शोधक उपाय हैं। इनके द्वारा चित्तके शुद्ध हो जानेपर उपर्युक्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं, इससे सबीज या संप्रज्ञात समाधि को योगी प्राप्त करता है। इस समाधिमें यह ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति और पुरुष दो पृथक्-पृथक् हैं, इसीको सत्त्वपुरुषान्यताख्याति कहते हैं (सत्त्व=प्रकृति और पुरुषकी अन्यता=भिन्नताकी ख्याति=कथन)। इस ज्ञानके होनेपर भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि प्रकृति और पुरुषकी पृथक्ताका संस्कार तो बना ही रहता है अतः असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि आवश्यक होती है। इसमें स्वयं प्रकाशभूत केवल पुरुष ही रह जाता है।

इसी को माघने इन शब्दोंमें स्पष्ट किया है कि मैत्री आदि चित्तशोधक कर्मोंको जाननेवाले, उनके द्वारा क्लेशोंका नाश करके संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त करते हैं। इस समाधि द्वारा जब उन्हें प्रकृति और पुरुषकी भिन्नताका बोध हो जाता है तब असंप्रज्ञात या निर्बीज समाधि द्वारा उस बोधको भी समाप्त कर देते हैं अर्थात् केवल पुरुष मात्र रह जाते हैं। ऐसे व्यक्ति इस पर्वतपर रहते हैं। अर्थात् यह केवल विलासियोंकी भोगभूमि ही नहीं प्रत्युत साधकोंकी मोक्ष-भूमि भी है ॥५५॥

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ॥५६॥

अन्वय :—इह, मरकतमयमेदिनीषु, तरुविटपान्तरपातिनः, स्फुरिताणुरेणुजालाः, भानोः, मयूखाः, अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीं, दधति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। मरकतमयमेदिनीषु = मरकतमणिवाली भूमियोंमें। तरुविटपान्तरपातिन:=वृक्षोंकी शाखाओंके बीचसे आनेवाली। फुरिताणुरेणुजाला: =चमकते हुए सूक्ष्म धूलि-कणोंवाली। भानो: मयूखा:= सूर्यकी किरणें। अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीं=झुके हुए मोरके कण्ठकी शोभा को। दधति=धारण कर रही हैं।

सर्वङ्कषा—मरकतेति। इह=अद्रौ मरकतानां विकारा मरकतमय्यस्तासु मेदिनीषु। 'स्त्रियाः पुंवत्–' इत्यादिना पुंवद्भावः। तरूणां विटपा:=पल्लवा: तेषामन्तरैः=अवकाशैः पतन्तीति तथोक्ताः। 'विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्भशाखयोः' इति विश्वः। स्फुरितानि अणुरेणूनां=सूक्ष्मरजसां जालानि येषु ते भानोर्मयूखा: अवनतस्य शितिकण्ठकण्ठस्य=मयूरकन्धराया लक्ष्मीं दधतीति निदर्शनालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥५६॥

भावार्थ—इस पर्वत पर मरकत मणिमयी भूमियोंपर वृक्षोंकी शाखाओं के बीचसे छनकर आती हुई, चमकते हुए धूलिकणोंवाली सूर्यकी किरणें झुके हुए मोरके कण्ठकी शोभाको धारण कर रही हैं।

टिप्पणी—मरकतमय भूमि हरी है, सूर्यकी किरणें श्वेत हैं चमकती हुई धूलिकी कणें कपिश, इस प्रकार कई रंग मिलकर ऐसे दिखाई दे रहे हैं मानो झुका हुआ मोरका कण्ठ हो, यह तात्पर्य है ॥५६॥

या बिभर्ति कलवल्लकीगुणस्वानमानमतिकालिमाऽलया।
नात्र कान्तमुपगीतया तया स्वानमा नमति काऽलिमालया ॥५७॥

अन्वय :—अत्र अतिकालिमा, अलया, या, कलवल्लकीगुणस्वानमानम्, बिभर्ति, उपगीतया, तया, अलिमालया, स्वानमा. का, कान्तम्, न, नमति।

पदार्थ :—अत्र = इस पर्वतपर। अतिकालिमा=अत्यन्तकाली, अलया= एक स्थानपर न रहनेवाली (घूमती हुई)। या=जो। कलवल्लकीगुणस्वान-मानम्=मधुर वीणाकी ध्वनिकी समानताको। बिभर्ति=धारण करती है। उपगीतया=समीपमें गान करती हुई। तया=उस। अलिमालया=भौंरोंकी पंक्ति से। स्वानमा=सुखपूर्वक झुकाई जाने योग्य। का=कौन (स्त्री)। कान्तम्= प्रियतम के लिये। न नमति=नहीं झुक जाती।

सर्वङ्कषा—येति। अत्र=अद्रौ अति=अत्यन्तः कालिमा=काष्ण्यं यस्याः साऽतिकालिमा। अतिश्यामेत्यर्थः। न विद्यते लयो लयनं क्वचिदवस्थानं यस्याः स्सा अलया=भ्रमन्तीत्यर्थः। अत एव सस्वनेति भावः। या=अलिमाला। कल:=

अव्यक्तमधुरः वल्लकीगुणस्वानस्य=वीणातन्त्रीशब्दस्य मानम्=उपमानं बिभर्ति। तन्त्रीवद् ध्वनतीत्यर्थः। उपमालङ्कारः। उपगीतया=समीपे गातुं प्रवृत्तयैव, न तु पूर्वं गायन्त्येवेति भावः। 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति क्तः। तथाऽलि-मालया=भृङ्गावल्या स्वानमा=सुखेनानमयितुमाक्रष्टुं शक्या 'ईषद्दुस्' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। का वा स्त्री कान्तं=प्रियं न नमति। सर्वापि मानं विहाय कान्तं सद्यः प्रणमत्येव, तथोद्दीपकत्वाद्गानस्येत्यर्थः। रथोद्धता वृत्तम्। 'रो नराविति रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥५७॥

भावार्थ—इस पर्वतपर अत्यन्त श्यामवर्ण की, चञ्चल जो भौंरोंकी पंक्ति, मधुरवीणा की ध्वनिके समान गूंजती रहती है, समीपमें गूंजती हुई उस भ्रमरपंक्ति द्वारा, कौन ऐसी स्त्री है जो, प्रियतमके सम्मुख झुका नहीं दी जाती।

टिप्पणी—भौंरोंका गुञ्जन कामोत्तेजक होता है, समीपमें भ्रमरपंक्तियोंकी गुंजार सुनकर कौन ऐसी स्त्री होगी जो अपने प्रियतमके सम्मुख मानिनी बनकर रह सके। अर्थात् सभी मानिनियों का मान भंग हो जाता है।

यह रथोद्धता छन्द है इसके प्रत्येक चरणमें रगण नगण रगण लघु गुरु ऽ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ।ऽ होते हैं ॥५७॥

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नि तप्ता-
स्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः ॥५८॥

अन्वय :—इह वप्राः, सायं, शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीर-निकरेण, कृताभिषेकाः, अह्नि, अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः, तप्ताः, तीव्रं, महाव्रतम् इव, चरन्ति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। वप्राः=शिखर। सायं=शामको। शशाङ्क-किरणाहतचन्द्रकान्त=चन्द्रमाकी किरणोंसे ताड़ित चन्द्रकान्त मणिसे, निष्य-न्दिनीरनिकरेण=झरते हुए जलसमूहके द्वारा। कृताभिषेकाः=स्नान किये हुए। (तथा) अह्नि=दिन में। अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः=सूर्यकान्त मणियोंसे उठती हुई आगकी लपटोंसे। तप्ताः=तपाये गये। तीव्रं महाव्रतं इव=उग्र तपश्चर्या जैसी। चरन्ति=कर रहे हैं।

सर्गङ्कषा—सायमिति। इह=अद्रौ वप्राः=सानवः। 'वप्रोऽस्त्री सानु-

मानयोः' इत्यमरः । सायं=रात्रौ शशाङ्ककिरणैराहतेभ्यश्चन्द्रकान्तेभ्यो निस्यन्दिना=प्रस्राविणा नीरनिकरेण=जलपूरेण कृताभिषेकाः=कृतस्नानाः । अह्नि अर्कोपलेभ्यः=सूर्यकान्तेभ्य उल्लसितैः=उत्थितैर्वह्निभिस्तप्ताः सन्तस्तीव्रम् = उग्रं दुश्चरं महाव्रतं महातपश्चरन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥५८॥

भावार्थ—इस पर्वतके शिखर शामको तो चन्द्रकिरणें पड़नेपर चन्द्रकान्तमणियोंके पिघलते हुए जलसमूहसे भिगाये जाते हैं और दिनमें सूर्य किरणें पड़नेसे सूर्यकान्त मणियोंसे निकलती हुई आगकी लपटोंसे तपाये जाते हैं । इस प्रकार मानो उग्र तपस्या कर रहे हैं ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि शिखर सूर्यकान्त तथा चन्द्रकान्तमणियोंसे भरे हैं । महाव्रत—एक विशेष प्रकारकी तपश्चर्या है जिसमें रात्रिमें जलमें रहा जाता है और दिनमें पंचाग्निका सेवन किया जाता है ॥५८॥

एतस्मिन्नधिकपयः श्रियं वहन्त्यः
संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः ।
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां
साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः ॥५९॥

अन्वयः—एतस्मिन्, अधिकपयःश्रियं वहन्त्यः, पवनभुवा, जवेन, संक्षोभं नीताः, अरहितरामलक्ष्मणानां (णाः) महासरस्यः वाल्मीकेः (अधिकपयः (पीनां), श्रियं वहन्त्यः (न्तीनां) पवनभुवा जवेन संक्षोभं नीताः (नीतानाम्), अरहित राम लक्ष्मणानां) गिरां साधर्म्यं दधति ।

पदार्थ—एतस्मिन्=इस पर्वपपर । अधिकपयःश्रियं वहन्त्यः=प्रचुर जलकी शोभाको धारण करती हुई । पवनभुवा=वायुसे उत्पन्न । जवेन=वेगसे । संक्षोभं=क्षुब्धताको । नीताः=ले जाई गई । अरहितरामलक्ष्मणाः=अपने प्रियतमोंसे न वियुक्त हुई सारसियोंवाली । महासरस्यः=बड़ी बड़ी झीलं । (अधिकपयः= बहुतसे वन्दरोंवाली । श्रियं वहन्त्यः=शोभायुक्त । पवनभुवा=वायुपुत्र हनूमान्से । जवेन=वेगसे । संक्षोभं नीताः=क्षोभको प्राप्त कराई गई । अरहितरामलक्ष्मणानां= राम और लक्ष्मणसे जो रहित नहीं हैं ऐसी) वाल्मीकेःगिरां=वाल्मीकिकी वाणियोंकी । साधर्म्यं=समानताको । दधति=धारण करती हैं ।

सर्वङ्कषा—एतस्मिन्निति । एतस्मिन्=अद्रौ अधिकपयःश्रियम् = अधिकां जलसमृद्धि वहन्त्यः, अन्यत्र तु अधिकाः कपयः सुग्रीवादयो वर्ण्यत्वेन यासु ताः अधिकपयः । श्रियं=गुणालङ्कारादिशोभां वहन्त्यः । पवनाद्भवतीति

पवनभूतस्तेन पवनभुवा=वायुजन्येन जवेन=वेगेन संक्षोभं=चलनं नीताः, अन्यत्र तु जवेन जविना । 'जवो जविनि वेगे स्यात्' इति विश्वः । पवनभुवा=हनूमता संक्षोभम्=औद्धत्यं नीताः । हनुमद्वेगवर्णनया प्रागल्भ्यं नीता इत्यर्थः । वाक्पक्षे सर्वत्र षष्ठ्या विपरिणामः कार्यः । महासरस्यः=महासरांसि अरहितौ=अवर्जितौ रामलक्ष्मणौ याभिस्तासाम् , अन्यत्र तु रामो=रमणः अरहितरामा=अवियुक्तरामाः लक्ष्मणाः=सारसयोषितो यासु ताः । केचित्त्वरहितरामा अवियुक्त-स्त्रीकाः लक्ष्मणाः सारसा इति पुंपक्षिपरत्वेन व्याचक्षते । तेषां 'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' । 'लक्ष्मणोषधिसारस्योः' इत्याद्यमरविश्वप्रकाशादिवाक्यगत-नियतस्त्र्यर्थताविरोधः । तासां वाल्मीकेर्गिरां साधर्म्यं=सादृश्यं वहति । अत्र पवनभुवा जवेनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदभग्नैकपादगत्वेनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः। अन्यत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतीतेर्जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव मिथः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेष इत्यु-भयसाहित्यादुभयश्लेषोऽयं प्रकृताप्रकृतगोचरः, उपमा त्वङ्गमिति सङ्करः॥५९॥

भावार्थ—इस पर्वतपर प्रचुरमात्रामें जलोंकी शोभाको धारण करती हुई, हवाके वेगसे हिलने डुलनेवाली, सारसियाँ जिनमें कभी सारसोंसे अलग नहीं होती ऐसी बड़ी बड़ी झीलें, बहुतसे बन्दरोंकी कथावली, शोभा सम्पन्न, वायुपुत्र हनुमान्‌जीके वेगसे क्षुब्ध हुई तथा रामलक्ष्मणकी चर्चासे जो कहीं रहित नहीं है ऐसी वाल्मीकिकी वाणीकी समानताको धारण करती हैं ॥५९॥

इह मुहुर्मुदितैः कलभै रवः
प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः ।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः
कनकरत्नभुवां च मरीचयः ॥ ६० ॥

अन्वयः—इह, मुदितैः कलभैः, प्रतिदिशं, मुहुः कलभैरवः रवः, क्रियते । अनुवनं चमरीचयः स्फुरति, च, कनकरत्नभुवां मरीचयः (स्फुरन्ति) ।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर । मुदितैः=प्रसन्न हुए । कलभैः=हाथीके बच्चों द्वारा । प्रतिदिशं=चारों ओर । मुहुः=बार-बार । कलभैरवः=मधुर और भीषण । रवः=शब्द । क्रियते=किया जाता है । अनुवनं=प्रत्येक वनमें । चमरीचयः=चँवर गायोंका झुण्ड । स्फुरति=उछल रहा है । च=और । कनकरत्नभुवां=सुनहरी रत्नोंवाली भूमियोंकी । मरीचयः=किरणें भी (चमक रही हैं) ।

सर्वङ्कषा—इहेति। इह=अद्रौ मुदितैः=इच्छाविहारसंतुष्टैः कलभैः=करिपोतैः। 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः। दिशि दिशि प्रतिदिशम्। यथार्थेऽव्ययीभावः। 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। कलश्चासौ भैरवश्च कलभैरवो=मधुरभीषणः। विशेषणयोरपि कुपाणिखञ्जवदैच्छिकोपसर्जनत्वविवक्षया विशेषणसमासः। रवः=बृंहणध्वनिर्मुहुः क्रियते। अनुवनं=वने वने चमरीचयः=चमरीमृगसङ्घः स्फुरति। किंच कनकरत्नानां या भुवस्तासां मरीचयः=किरणाश्च स्फुरन्ति। समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारे यमकस्याभ्युच्चयः ॥ ६० ॥

भावार्थ—इस पर्वतमें चारों ओर हाथियोंके बच्चे प्रसन्नतासे बार-बार चिग्घाड़ते रहते हैं। प्रत्येक वनमें चँवर गायोंके झुण्ड दौड़ते रहते हैं तथा सुवर्ण एवं रत्नोंवाली भूमियोंसे उठती हुई किरणें चमकती रहती हैं ॥ ६० ॥

त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीति-
रस्मिन्नसौ मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः।
कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिरेति
रागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अस्मिन्, त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः, मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः, कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः, असौ, वायुः, रागी इव, विषयेषु, अधिकां, सक्तिम्, एति।

पदार्थ—अस्मिन्=इस पर्वतपर। त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः=(जंगलोंमें)बांसोंके छिद्र भर देनेसे प्राप्त किया है गानका सुख जिसने ऐसा। मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः=मसल दिया है रोओंवाले रल्लकमृगके अंगोंको जिसने ऐसा। कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः=कस्तूरीमृगके मर्दनसे प्राप्त सुगन्धवाला। असौ वायुः=यह वायु। रागी इव=विषयी व्यक्तिकी तरह। विषयेषु=गन्धादि विषयोंमें। अधिकां सक्तिम् एति=अधिक आसक्तिको प्राप्त करता है।

सर्वङ्कषा—त्वगिति। अस्मिन्=अद्रौ त्वचि सारो येषां ते त्वक्साराः=वंशाः। 'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः' इत्यमरः। तेषां रन्ध्राणि तेषां परिपूरणेन=व्यापनेन लब्धा गीतिः=गानसुखं येन सः। मृदितानि=सम्मृष्टानि पक्ष्मलानि=लोमशानि रल्लकानां=कम्बलमृगाणां, कम्बलानां वा अङ्गानि=शरीराणि येन सः। 'रल्लकः कम्बलमृगे कम्बले परिकीर्तितः' इति वैजयन्ती। एतेन स्पर्शसुखमुक्तम्। कस्तूरिकामृगाणां विमर्देन=सङ्घर्षेण

सुगन्धिः=शोभनगन्धः। यद्यपि गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तम्, तथापि 'निरङ्कुशाः कवयः' इत्यपर्यनुयोगः। असौ=एवम्भूतो वायू रागीव=कामीव विषयेषु प्रदेशेषु च। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः। अधिकां सक्तिं=व्यासक्तिमेति=गच्छति ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जैसे कोई विषयी पुरुष ज्यों-ज्यों विषयों (शब्द-स्पर्शादि)का सेवन करता है त्यों-त्यों उनपर अधिक आसक्त होता जाता है। ऐसे ही इस पर्वतपर वहता हुआ यह वायु भी बांसोंके छिद्रोंको भर देनेसे उत्पन्न ध्वनिद्वारा गान सुख (श्रवणेन्द्रियको तृप्त करनेवाले शब्द सुख)को, पर्याप्त रोम्रोंवाले रल्लक मृगके शरीरको मसलता हुआ स्पर्श सुखको और कस्तूरीमृगका मर्दन करनेसे गन्ध सुखको प्राप्त करता हुआ अधिक आसक्त हो रहा है।

टिप्पणी—यहाँ रागीके पक्षमें भी—त्वक्सार अर्थात् बांससे बने वेणु आदि वाद्योंकी ध्वनिसे श्रवणेन्द्रियके विषय (शब्द)की तृप्ति, रल्लक=कम्वल से स्पर्शेन्द्रियके विषय (स्पर्श)की तृप्ति और कस्तूरी मृगसे घ्राणेन्द्रियके विषय (गन्ध)की तृप्ति व्यक्त होती है।

इस पद्यमें मृदित और मर्दन पद कविके शब्द-दारिद्र्यको सूचित करते हैं ॥ ६१ ॥

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः।
दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः ॥६२॥

अन्वयः—इह, यूनां, प्रीत्यै, व्यवहिततपनाः, सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः, जलदाः, प्रौढ़ध्वान्तं, दिनं, दोषामन्यं, विदधति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। यूनां=युवक-युवतियोंकी। प्रीत्यै=प्रसन्नताके लिए। व्यवहिततपनाः=सूर्यको ढक देते हुए। सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः=सुरत क्रीडाके प्रयत्नमें जो श्रम, उसको शांत करनेमें चतुर। जलदाः=मेघ। प्रौढध्वान्तं=घने अन्धकारवाले। दिनं=दिनको। दोषामन्यं=अपनेको रात माननेवाला। विदधति=कर रहे हैं।

सर्वङ्कषा—प्रीत्यै इति। इह=अद्रौ युवतयश्च युवानश्च तेषां यूनाम्। 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः। प्रीत्यै व्यवहिततपनाः=तिरोहितार्काः। अत एव 'श्रमः सुरतान्येव क्रीडास्ताभिर्य आयासः=व्यायामस्तेन यः श्रमः=खेदः। 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' इति लक्षणात्। तस्य शमे=वारणे पटवः=समर्था जलदाः=मेघाः

प्रौढध्वान्तं=मेघावरणाद्गाढान्धकारं दिनं=दिवसं दोषां=रात्रिमात्मानं मन्यत इति दोषामन्यं=रात्रिमानिनं विदधति। मेघावरणमहिम्ना दिवसः स्वयमप्यात्मानं रात्रिं मन्यते, किमुतान्य इत्यर्थः। दोषेत्यव्ययं तदुपपदान्मन्यतेर्धातोः 'आत्ममाने खश् च' इति खश्प्रत्ययः। इह यूनां दोषावद्दिवापि विस्रम्भं विहारः सम्भवतीति भावः। भ्रमरविलसितं वृत्तम्। 'म्भौ न्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसितम्' इति लक्षणात् ॥ ६२ ॥

भावार्थ—इस पर्वतपर युवक-युवतियोंको प्रसन्न करनेके लिए सूर्यको ढक देनेवाले तथा सुरतक्रीड़ासे होनेवाले आयासके श्रमको दूर करनेमें निपुण मेघ दिनमें ही इतना घना अंधेरा कर देते हैं कि दिन स्वयं अपनेको रात समझने लगता है।

टिप्पणी—यह भ्रमरविलसित छन्द है। इसके प्रत्येक चरणमें मगण भगण नगण लघु और गुरु ऽऽऽ ऽ।। ।।। । ऽ होते हैं ॥ ६२ ॥

भग्नो निवासोऽयमिहास्य पुष्पैः
सदानतो येन विषाणिनाऽगः।
तीव्राणि तेनोज्झति कोपितोऽसौ
सदानतोयेन विषाणि नागः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—इहः अस्य निवासः, सदा पुष्पैः, आनतः, अगः येन विषाणिना, भग्नः, सदानतोयेन तेन, कोपितः, असौ नागः, तीव्राणि, विषाणि, उज्झति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। अस्य=इस (सर्प)का। निवास=घर (रहनेका स्थान)। पुष्पैः सदा आनतः=फूलोंसे सदा झुका हुआ। अगः=वृक्ष। येन=जिस। विषाणिना=दांतोंवाले (हाथी)ने। भग्नः=नष्ट कर दिया। सदानतोयेन =दानवारि (मदजल)से युक्त। तेन=उसी (हाथी)से। कोपितः=क्रुद्ध किया गया। असौ नागः=यह सर्प। तीव्राणि विषाणि=तीव्र विषोंको। उज्झति= उगल रहा है।

सर्वङ्कषा—भग्न इति। इह=अद्रौ अस्य=नागस्य निवासः=आश्रयः सदा पुष्पैरानतो=नम्रोऽयं न गच्छतीत्यगः=वृक्षो दानतोयैः=मदोदकैः सह वर्तते यस्तेन सदानतोयेन=मत्तेनेत्यर्थः। येन विषाणिना=दन्तिना भग्नस्तेन=विषाणिना कोपितः=कोपं प्रापितोऽसौ नागः=सर्पस्तीव्राणि विषाणि=गरलान्युज्झति=वमति। परप्रतीकाराक्षमस्य क्रोधः स्वाश्रयमेव व्याहन्तीति भावः ॥६३॥

भावार्थ—इस पर्वत पर सदा फूलोंसे लदे वृक्षपर रहनेवाले इस सर्पका आश्रयभूत वृक्ष जिस हाथीने रोंद डाला, मदजल बरसाते हुए उस (हाथी)के द्वारा क्रुद्ध हुआ यह तीव्र विषोंको उगल रहा है ॥६३॥

प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि
सान्द्रेभचर्मवसनावरणोऽधिशेते ।
सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति
न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चिदकिञ्चनोऽपि ॥६४॥

अन्वय :—ईश्वर; अपि, प्रालेयशीतम्, अचलेश्वरम्, सान्द्रेभचर्मवसनावरणः (सन), अधिशेते । सर्वर्तुनिवृतिकरे, इह, निवसन्, अकिञ्चनः, किञ्चिद्, अपि, द्वन्द्वदुःखं, न उपैति ।

पदार्थ—ईश्वरः अपि=शिवजी भी । प्रालेयशीतम्=हिमसे शीतल । अचलेश्वरं=पर्वतराज कैलासपर । सान्द्रेभचर्मवसनावरणः सन्=गाढ़े हाथीके चर्मरूप वस्त्र को ओढ़कर । अधिशेते=सोते हैं । (किन्तु)सर्वर्तुनिर्वृतिकरे=सब ऋतुओंमें आनन्द देनेवाले । इह=इस पर्वतपर । निवसन्=रहता हुआ । अकिञ्चनः अपि=दरिद्र भी । किञ्चित् अपि=कुछ भी । द्वन्द्वदुःखं=द्वन्द्व दुःखको (शीत-उष्ण आदिके संताप को) । न उपैति=नहीं प्राप्त करता ।

सर्वङ्कषा—प्रालेयेति । ईश्वरः=शिवोऽपि, किमुतान्य इति भावः । सान्द्रं यदिभचर्म तदेव वसनं तदेवावरणं=छादनं यस्य सः तथा सन् । न त्वनावरणो नापि शिथिलावरण इति भावः । प्रलयादागतं प्रालेयं=हिमम् । 'तत आगतः' इत्यणि 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' इति यशब्दस्येयादेशः । तेन शीतं=शीतलमचलेश्वरं=हिमवन्तमधिशेते । तस्मिञ्शेत इत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् । सर्वर्तुभिर्निर्वृतिकरे=सदासुखकर इहाद्रौ निवसन् पुनर्नास्ति किञ्चनास्येत्यकिञ्चनो=निःस्वोऽपि । उच्चावचेत्यादिना मयूरव्यंसकादिषु निपातनात्तत्पुरुषः । किञ्चित्=अल्पमपि द्वन्द्वदुःखं=शीतोष्णदुखं नोपैति । नित्यं सन्निहितानामृतूनामन्योन्यदोषनिवारकत्वादिदि भाव; । 'द्वन्द्वं युग्महिमोष्णादि मिथुनं कलहो रहः' इति वैजयन्ती । अत्रोपमानाद्धिमाचलादुपमेयस्याधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकः ॥६४॥

भावार्थ—शिवजी भी हिमसे शीतल कैलाशपर गाढ़े गजचर्मको ओढ़कर सोते हैं किन्तु सब ऋतुओंमें आनन्द देनेवाले इस पर्वतपर रहता हुआ दरिद्र व्यक्ति कुछ भी शीत-उष्ण आदि दुःखोंके संतापको नहीं पाता ।

टिप्पणी—यहाँ ईश्वरोऽपि जहाँ शिवका वाचक है वहाँ उससे आढ्योऽपि अथवा समर्थोऽपि यह ध्वनि भी निकलती है। अर्थात् शिवजी समर्थ हैं फिर भी कैलाशमें बरफको ठंढक नहीं सह सकते और गाढ़े गजचर्मको ओढ़कर सोते हैं। किन्तु इस पर्वतपर सभी ऋतुओंमें आनन्द रहता है अतः यहाँ निर्धन व्यक्तिको भी शीत उष्ण आदिके कष्ट नहीं होते और वह बिना कुछ ओढ़े ही रह सकता है। हिमालयकी अपेक्षा यह श्रेष्ठ है, यह भाव है ॥६४॥

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः
स्फटिककटकभूभिर्नाटयत्येष शैलः।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥६५॥

अन्वय :—एष शैलः, नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः आभिः, स्फटिककटकभूभिः, अहिपरिकरभाजः, भास्मनैः अङ्गरागैः, अधिगतधवलिम्नः, शूलपाणेः, अभिख्याम्, नाटयति।

पदार्थ—एष शैलः=यह पर्वत। नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः=नये-नये वृक्षोंवाली वनपंक्तिसे साँवले मध्यभागवाली। आभिः=इन। स्फटिककटकभूभिः=स्फटिककी तटभूमियोंसे। अहिपरिकरभाजः=सर्पकी लंगोट लगाये हुए। भास्मनैः अङ्गरागैः=भस्ममय अङ्गरागोंसे। अधिगतधवलिम्नः=प्राप्तकी है श्वेतता जिन्होंने ऐसे। शूलपाणेः=शिवजीकी। अभिख्याम्=शोभाको। नाटयति=अनुकृत कर रहा है।

सर्वङ्कषा—नवेति। एष शैलः=रैवतको नवया नगवनलेखया=तरुवनपङ्क्तया श्यामो मध्यः=मध्यभागो यासां ताभिराभिः स्फटिकानां कटकभूभिः=तटप्रदेशैः करणैरहिरेव परिकरः=गात्रिकाबन्धस्तं भजतीति तस्याहिपरिकरभाजः। 'भवेत्परिकरो व्राते पर्यङ्कपरिवारयोः। प्रगाढे गात्रिकाबन्धे विवेकारम्भयोरपि' इति विश्वः। 'भजो ण्विः' भास्मनैः=भस्ममयैः। वैकारिकोऽण्प्रत्ययः। अणिति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। अङ्गरागैः=अनुलेपनैरधिगतधवलिम्नः=प्राप्तधावल्यस्य शूलं पाणौ यस्य तस्य शूलपाणेः=ईश्वरस्य। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' (वा०)। अभिख्यां=शोभाम्। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्ययः। नाटयति=अनुकरोति। निदर्शनालङ्कारः। मालिनीवृत्तमेतत् ॥६५॥

भावार्थ—यह पर्वत नये-नये वृक्षोंवाली वनपंक्तिसे साँवले मध्यभागवाली

इन स्फटिककी तटभूमियोंसे, सर्पको कमरमें लपेटे तथा शरीरमें भस्म पोते हुए शिवजीकी शोभाका अनुकरण कर रहा है ॥६५॥

दधद्भिरभितस्तटौ विकचवारिजाम्बूनदै-
विनोदितदिनक्लमाः कृतरुचश्च जाम्बूनदैः ।
निषेव्य मधु माधवाः सरसमत्र कादम्बरं
हरन्ति रतये रहः प्रियतमाङ्ककादम्बरम् ॥६६॥

अन्वयः—अत्र, अभितः, विकचवारिजाम्बू, तटौ, दधद्भिः, नदैः, विनोदितदिनक्लमाः, च, जाम्बूनदैः, कृतरुचः, माधवाः, सरसं, कादम्बरं, मधु, निषेव्य, रतये, रहः, प्रियतमाङ्गकात्, अम्बरम्, हरन्ति ।

पदार्थ—अत्र=इस पर्वतपर । अभितः=दोनों ओर । विकचवारिजाम्बू=खिले हुए कमलोंवाले जलसे पूर्ण । तटौ=तटों (किनारों) को । दधद्भिः=धारण करते हुए । नदैः=जलप्रवाहोंसे । विनोदितदिनक्लमा=दूर की हैं दिनकी थकावट जिन्होंने ऐसे । च=और । जाम्बूनदैः=सुवर्णोंसे । कृतरुचः=की हैं शोभा जिन्होंने ऐसे । माधवाः=यादव लोग । सरसं=स्वादिष्ट । कादम्बरं=ऊखसे बने । मधु=मद्यको । निषेव्य=पीकर । रहः=एकान्तमें । रतये=रतिक्रीड़ाके लिये । प्रियतमाङ्गकात्=प्रियतमाओंके शरीरसे । अम्बरम्=वस्त्रको । हरन्ति=हटाते हैं ।

सर्वङ्कषा—दधद्भिरिति । अत्र=अद्रौ माधवस्य इमे माधवाः=यादवाः विकचानि वारिजानि येषु तान्यम्बूनि ययोस्तौ विकचवारिजाम्बू अभितः=उभयतस्तटौ दधद्भिर्नदैः=अम्बुप्रवाहैः । प्राक्स्रोतसो नद्यः, प्रत्यक्स्रोतसो नदाः नर्मदां विनेत्याहुः । विनोदितो दिनक्लमो येषां ते=विहारापनीताह्निकसन्तापा इत्यर्थः । किञ्च जम्बूनदस्य विकारैः जाम्बूनदैः=कनकभूषणैः कृतरुचो=जनितशोभाः सन्तः रसवत्=स्वादवत् । 'रसो गन्धे रसे स्वादे' इति विश्वः । कादम्बः=इक्षुः । 'कादम्बः कलहंसेक्ष्वोः' इति विश्वः । कादम्बं राति रलयोरभेदाल्लाति प्रकृतित्वेनादत्त इति कादम्बरम्=ऐक्षवम् । 'पानसं द्राक्षमाधूकं खार्जूरं तालमैक्षवम्' इति स्मरणात् । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । मधु=मद्यम् । एवं च मधुकादम्बरशब्दयोः सामान्यविशेषपरत्वादपौनरुक्त्यम् । निषेव्य=पीत्वा । क्षत्रियाणां पैष्ट्या एव निषेधादिति भावः । रतये=सुरतार्थं रहः प्रियतमानां=प्रेयसीनामङ्कादेवाङ्ककाद्=गात्रादम्बरं=वस्त्रं हरन्ति । यादवाश्चेह मधुपान-

रतोत्सवैर्विस्रब्धं विहरन्तीति भावः। पृथ्वीवृत्तम्। 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ॥६६॥

भावार्थ—इस पर्वतपर यादव लोग, दोनों ओर विकसित कमलोंसे युक्त जलवाले तटोंको धारण करते हुए जलप्रवाहोंसे दिनकी थकावट दूर करते हैं और रात्रिमें सुवर्णादिके आभूषणोंसे सजकर स्वादिष्ट गन्नेकी शराब पीकर एकान्तमें रतिक्रीड़ाके लिए प्रियतमाओंके शरीरसे वस्त्रोंको हटाने लगते हैं।

टिप्पणी—केवल यमकका चमत्कार दिखानेके लिए इतनी अधमकोटिकी काव्यरचना भी माघ कर सकते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है।

यह पृथ्वी छन्द है, इसमें ८ और ९ वर्णोंपर विराम होता है तथा प्रत्येक चरणमें—जगण सगण जगण सगण यगण लघु और गुरु ।ऽ। ॥ऽ ।ऽ। ॥ऽ ।ऽऽ ।ऽ होते हैं ॥६६॥

दर्पणनिर्मलासु पतिते घनतिमिरमुषि
ज्योतिषि रौप्यभित्तिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः।
व्रीडमसम्मुखोऽपि रमणैरपहृतवसनाः
काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः ॥६७॥

अन्वय :—इह, रविः असम्मुखः अपि, दर्पणनिर्मलासु, पुरः रौप्यभित्तिषु, पतिते, घनतिमिरमुषि ज्योतिषि, काञ्चनकन्दरासु मुहुः प्रतिफलति (सति), रमणैः अपहृतवसनाः तरुणीः, व्रीडम्, नयति।

पदार्थ—इह=इस पर्वतपर। रविः=सूर्य। असम्मुखः अपि=स्वयं सामने न रहता हुआ भी। दर्पणनिर्मलासु=दर्पणकी भाँति स्वच्छ। पुरः=सामनेकी। रौप्यभित्तिषु=चाँदीकी दीवालोंपर (रजतमय शिखरोंपर)। पतिते=पड़ी हुई। घनतिमिरमुषि=गाढ़े अन्धकारको हरनेवाली। ज्योतिषि=किरणोंके। काञ्चनकन्दरासु=सुवर्ण गुफाओंमें। मुहुः=बार-बार। प्रतिफलति=प्रतिबिम्बित होनेपर। रमणैः=प्रियतमों द्वारा। अपहृतवसनाः=हटाये गये वस्त्रों वाली। तरुणीः=युवतियोंको। व्रीडम् नयति=लज्जित कर देता है।

सर्वङ्कषा—दर्पणेति। इह=अद्रौ रविर्दर्पणनिर्मलासु पुरः रौप्यभित्तिषु=काञ्चनकन्दराग्रवर्तिरजतसानुषु पतिते=संक्रान्ते घनं=सान्द्रं यत्तिमिरं=तन्मुष्णाति=हरतीति तन्मुट्। क्विप्। तस्मिञ्ज्योतिषि=स्वतेजसि काञ्चनकन्दरासु मुहुः प्रतिफलति=सम्मूर्च्छति सति रमणैरपहृतवसनास्त-

रुणीरसम्मुखोऽपि = कन्दरानभिमुखोऽपि व्रीडं=त्रपाम् । यद्यपि 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियामप्रत्ययः । अत एव 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमरः । तथापि तत्र स्त्रीत्वाविवक्षायां बाहुलकत्वान्नपुंसकत्वं च । अत एव 'अविधौ गुरोः स्त्रियां वहुलविवक्षा' इति वामनः । नयति=प्रापयति । 'नीवह्योर्हरतेश्चैव' इति द्विकर्मकता । यस्मिन् सुवर्णकन्दरासु क्रीडार्थं प्रविष्टाः स्त्रियोऽन्धकार इति कृत्वा पुरुषैरपहृतवस्त्राः सत्यः । पुरः स्थितरौप्यभित्तितेजसामन्तः प्रतिविम्ब-नत्प्रकाशे सति सलज्जा इति भावः । अत्र काञ्चनकन्दराणामसम्मुखार्कज्योतिः प्रतिफलनासम्वन्धेऽपि सम्वन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । वंशपत्रपतितं वृत्तम् । 'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनलगैः' इति लक्षणात् ॥६७॥

भावार्थ—इस पर्वतपर, सूर्य स्वयं सम्मुख न होता हुआ भी, चाँदीके शिखरों पर पड़ी हुई गाढ़ अन्धकारको हरनेवाली किरणोंके सुवर्ण गुफाओंमें बार-बार प्रतिफलित होनेसे प्रियतमों द्वारा हटाये गये वस्त्रोंवाली (नग्न की हुई) युवतियोंको लज्जित कर देता है ।

टिप्पणी—रैवतकके सुवर्णमय शिखरोंकी गुफाओंमें अंधेरा समझकर युवतियाँ अपने चहेतोंके साथ सुरत क्रीड़ाके लिए जाती हैं, उनके वे प्रियतम शराब पीकर उन्मत्त हुए उन्हें नंगी कर देते हैं और वहाँ रौप्यशिखरोंपर पड़ी सूर्य किरणें उन कन्दराओंमें बार-बार प्रतिफलित होंनेसे वहाँ प्रकाश होने लगता है तो वे वेचारी लज्जित होने लगती हैं । यह है माघका कवित्व ।

यह वंशपत्रपतित छन्द है । इसमें १० और ७ पर विराम होता है तथा प्रत्येक चरणमें भगण रगण मगण नगण लघु और गुरु SII SIS SSS III IS होते हैं ॥६७॥

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतेऽसौ
त्वयि सरभसमभ्युत्तिष्ठतीवाद्रिरुच्चैः ।
द्रुतमरुदुपनुन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं
हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥६८॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के रैवतक-
वर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

अन्वय :—असौ उच्चैः अद्रिः त्वयि अभ्यागते अनुकृतशिखरौघश्रीभिः, द्रुतमरुदुपनुन्नैः सहेलम् उन्नमद्भिः, हलधरपरिधानश्यामलैः अम्बुवाहैः सरभसम् अभ्युत्तिष्ठति इव ।

पदार्थ—असौ उच्चैः अद्रिः=यह ऊंचा पर्वत। त्वयि अभ्यागते=आपके आनेपर (या आप जैसे अभ्यागत=अतिथिके लिये)। अनुकृतशिखरौघश्रीभिः=शिखरोंकी शोभाका अनुकरण करनेवाले। द्रुतमरुदुपनुन्नैः=तीव्रवायुसे प्रेरित। सहेलम्=अनायास। उन्नमद्भिः=ऊपर उठते हुए। हलधरपरिधानश्यामलैः=बलदेवजीके वस्त्रों जैसे साँवले। अम्बुवाहैः=मेघोंसे। सरभसम्=वेगपूर्वक। अभ्युत्तिष्ठति इव=अभ्युत्थान जैसा कर रहा है।

सर्वङ्कषा—अनुकृतेति। असावुच्चैः=उन्नतोऽद्रिः=रैवतकः त्वयि अभ्यागते सति अनुकृता शिखरौघाणां श्रीर्यैस्तैस्तथोक्तैः=शिखरौघभ्रमकारिभिरिति भावः। अत एवात्र श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते। द्रुतमरुतेनोपनुन्नैः=प्रेरितैः अत एव सहेलं=सलीलमुन्नमद्भिः=उत्पतद्भिः। धरतीति धरः। पचाद्यच्। हलस्य धरो हलधरः=बलभद्रः तस्य परिधानानि=अम्बराणि तद्वच्छ्यामलैः=श्यामैरम्बुवाहैर्निमित्तेन सरभसमभ्युत्तिष्ठतीव=प्रत्युत्थानं करोतीवेति क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा। विशिष्टमेघोन्नमनक्रियया प्रत्युत्थानक्रियोत्प्रेक्षणात् सा चोक्तनिदर्शनानुप्राणितेति सङ्करः। शब्दस्तु वृत्त्यनुप्रासः। मालिनी वृत्तम्। 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥६८॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-
काव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥४॥

भावार्थ—यह ऊंचा पर्वत आपके पहुँचनेपर, शिखरों जैसे दीखते हुए, तीव्र वायुसे प्रेरित, अनायास ऊपरको उठते हुए, बलदेवजीके वस्त्रों जैसे साँवले मेघों द्वारा मानो आपका अभ्युत्थान कर रहा है।

टिप्पणी—पर्वत स्वयं ऊंचा है उसपर भी उसके शिखरों जैसे ही दीखनेवाले मेघ वायु द्वारा ऊपरको ऐसे उठ रहे हैं मानो पर्वतके ही शिखर उठ रहे हों। इसीकी कविने उत्प्रेक्षा की है कि जैसे आपका स्वागत करनेके लिए पर्वत उठकर आरहा है। सर्गान्तमें मालिनी छन्द है ॥६८॥

साहित्याचार्य-पाण्डेय-श्रीजनार्दनशास्त्रिणा।
कृता चतुर्थसर्गस्य व्याख्येयं पूर्णतामगात् ॥४॥

१९५३